UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178808

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—891—5-8-74—15,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 413 Accession No. 11316

Author D995

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

सजनी

[उच्चकोटि का मौलिक तथा सामाजिक उपन्यास]

लेखक

श्री० सिद्धविनायक द्विवेदी

भूमिका-लेखक

श्रीनाथसिंह

प्रकाशक

आदर्श पुस्तक मन्दिर

चौक, इलाहाबाद

प्रकाशक
बनवारी तिवारी
आदर्श पुस्तक मन्दिर,
चौक, इलाहाबाद ।

[सर्वाधिकार प्रकाशक द्वारा सुरक्षित]

मूल्य २॥)

मुद्रक
विश्वप्रकाश
कला प्रेस, प्रयाग ।

भूमिका

आधुनिक युग में—दिल बहलाने और समय काटने के साधनों में— उपन्यास भी एक है। परन्तु उपन्यासों का इतना ही ध्येय नहीं है। इसके साथ ही वे उन मार्गों की ओर निर्देष करते हैं जिन पर चल कर मनुष्य अपने जीवन में सफल हो सकता है, उन सब खतरों की ओर सकेत करते है जो उसकी सफलता में बाधक हो सकते हैं, और प्रेम, दया, सहानुभूति, सेवा, धैर्य्य, संयम और त्याग की उन लहरों को उसके हृदय में तरंगित कर देते हैं जिनसे यह संसार रहने के काबिल और जीवन प्यारा प्रतीत होता है। अच्छे उपन्यासों की यही कसौटी है। अच्छे उपन्यास-लेखकों की प्रारम्भिक कृतियों में भी ये भाव विद्यमान रहते है।

प्रस्तुत उपन्यास हिन्दी में एक ऐसा ही प्रयत्न है। उपन्यास-प्रेमियों को इससे तृप्ति हुए बिना नहीं रह सकती। इसके लेखक श्री० सिद्धविनायक द्विवेदी की मैं हृदय से प्रशसा करता हूँ, क्योंकि उन्होंने उमङ्ग और उत्साह से यह उपन्यास लिखा है। इसमें उनके हृदय का योग है। वे एक ध्येय लेकर चले हैं और अपनी बात अपने ढङ्ग से कहने में सफल हुए हैं। सम्भवतः उनका यह पहला उपन्यास है। परन्तु कभी-कभी लेखक की प्रथम कृति ही राजा की प्रथम सन्तान के समान सब से अधिक आदर और प्रतिष्ठा का केन्द्र हो जाती है; इस

उपन्यास के विषय में मैं कोई ऐसी भविष्यवाणी नहीं करना चाहता। क्योंकि लेखक में प्रतिभा है, उनकी लेखनी में ओज है, वे और भी एक से एक नये उपन्यास हिन्दी-पाठकों के सामने उपस्थित कर सकते हैं। परन्तु तो भी प्रस्तुत उपन्यास के विषय में इतना तो बिना हिचक कहा ही जा सकता है कि यह पाठकों को बगैर अपनी ओर खींचे नहीं रह सकता। जिस उमङ्ग में आकर लेखक ने इसे लिखा है, आशा है, उसी प्रेम से जनता इसे अपनायेगी।

मैं इस उपन्यास के लेखक और प्रकाशक दोनों की सफलता की कामना करता हूँ, क्योंकि दोनों का ध्येय हिन्दी में मौलिक साहित्य की वृद्धि करना है।

'दीदी' कार्यालय,
इलाहाबाद
३१-७-४१

श्रीनाथसिंह

अन्तरिक्ष से टकरा कर लौटने वाली एक यही स्वर-लहरी गूँज रही थी—

आँसू है और रुदन है,
मूर्च्छा है घोर जलन है—
उफ़, मेरे नन्हे से मन में,
कितना उत्पीड़न है !

गायक तन्मय था, बेसुध था, संसार पर नहीं, स्वर्ग पर नहीं, और ईश्वर पर नहीं, केवल अपनी दर्दीली व्यथा पर, उमँगी हुई साध पर, और अपनी मूक आह पर। ओठों पर किसी की शिकायत न थी, जिह्वा में किसी के लिए अभिशाप न था और अन्तरात्मा में न थी किसी के प्रति विरक्ति या घृणा।

उसकी कड़ियाँ, उसकी स्वर-लहरी, उसके स्वर के कम्पन, उसकी वह अभिमिश्रित गायन-कला, उसकी निराशा, उसकी करुणा, उसका विलपन तथा सिहरन, आह की फुफकार—ज्वाला से झुलस जाने वाले का जादू, नशा था, बेहोशी का जुज़ था। हृदय बरबस उसकी ओर खिंचा जा रहा था। मन उसमें अटका पड़ता था। स्वतंत्र विहार करने वाली अन्तरात्मा इस परवशता के लिए उत्सुक थी।

वसन्तिका कई दिनों से—रात्रि की नीरव घड़ियों में—विस्तृत सुनील गगन के नीचे, अपनी पर्ण कुटी में बैठे-बैठे इन सत्य किन्तु शुष्क कड़ियों का नैराश्य गान, इन हृदय-स्पर्शनी कड़ियों से प्रवाहित होने वाली करुण-धारा का गुन-गर्जन सुन लेती थी। प्रतिदिन उसकी अन्तरात्मा चिहुँक कर पूछ बैठती थी—ऐं! वैरागी की कुटिया में सांसारिकता का यह कैसा निष्ठुर प्रभाव? क्यों प्रतिदिन ये कड़ियाँ पत्तों के अन्तराल से हर-हर करती हुई आकर, मेरे हृदय से टकरा जाती हैं? क्यों बिछा जाती हैं अपना मोह जाल? मेरी कुटी में मेरा स्वर्ग हो बना रहने दें। स्वर्ग का संसार न बनावें वन की पवित्रता, एकान्त की नीरवता और विराग की प्रखर निर्ममता को नष्ट न करें। जायँ, लौट जायँ, और फिर यहाँ कभी न टकरायें।

आज भी उसके सामने यह प्रश्न था। प्रत्येक भावना जैसे उसे झकझोरे डालती थी, पर क्षण ही भर पश्चात् उसके अन्तर में एक दूसरी ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ रही थी। जैसे उससे कोई पूछ रहा था—फिर दया का रहस्य क्या है? क्या निर्मम बन कर कोई दया की उपासना कर सका है? नहीं, वसन्तिके तुम्हें ऐसा न चाहिए। तुम ऋषि-कन्या हो साधना तुम्हारा शास्त्र और दयालुता तुम्हारा शृङ्गार है। दोनों से सुसज्जित होकर यदि उस गाय का कुछ हित कर सको तो—जाओ—कर दो। उपकार बड़ा होगा। व्यथित हृदय का सच्चा आशीर्वाद देवता के वरदान से कम नहीं।

वसन्तिका अपने को न रोक सकी। उस नीरव रात्रि में—जब उसका ऋषि-पिता ध्यानावस्थित था, वह कुटिया सूनी छोड़कर गायक की ओर चल पड़ी। पास पहुँच कर उसने

कहा—"परदेशी युवक, बन्द कर दो अपना गाना ! जानते हो, इस उपत्यका का अधिवासी एक ऋषि है।"

"जानता हूँ, मगर···!"—युवक को ध्यान-मुद्रा भङ्ग हो चुकी थी।

"मगर क्या ?"

"मैं गाता नहीं था।"

"गाते नहीं थे ! सच बताओ, क्या करते थे ?"

"सच कहूँ ! मैं समझ रहा था कि मेरा जीवन भी तो यही है, जो कुछ मेरे संगीत में तुम्हें सुनाई पड़ रहा था।"

"मगर सुनो परदेशी !"—वसन्तिका कहने लगी—"तुम पाप के भागी होने जा रहे हो। वे शब्द, जो किसी के प्रशान्त हृदय से टकरा कर, एक मायाविक द्वन्द—संघर्षण मचा देते हैं—पाप है।"

"मैं नहीं जानता कुछ भी ! पाप क्या और पुण्य क्या है ! जो पुण्य कार्य मुझे प्रकृति एवं अन्तरात्मा के विपरीत नहीं जँचता उसे क्या पाप कहूँ !"

"मगर परदेशी ! मुझे तुम्हारे विश्वास पर सन्देह है। हो सकता है—वह किसी का पुण्य हो क्यों न हो, किन्तु दूसरे के लिए पाप हो।"

युवक चुप हो गया। वसन्तिका पुनः फूट पड़ी—"तुम कौन परदेशी ? क्या है तुम्हारा परिचय ?"

"क्या करोगी जान कर, देवि।"

"तुम्हारी स्मृति समझ कर रक्खूँगी।"

"पर आज मैं नहीं जानता अपना परिचय स्वतः भी। क्या बताऊँ।"

"किन्तु मैं तो परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक थी।'

प्रकाश के जी में आया कि वह अपना परिचय दे, पर वसन्तिका के हृदय को और समझने के लिए उसने कहा—"क्यों देवि, मेरे प्रति इतना अनुराग क्यों ?"

"मैं विराग के सिवा तो और कुछ जानती नहीं, परदेशी ! किन्तु यह समझती हूँ कि मेरा प्रश्न मानव-धर्म के विपरीत नहीं।"

"विपरीत न हो, न सही; किन्तु अभी मेरे अनुकूल भी नहीं।"

"क्यों परदेशी ! अपना परिचय देने में तुम्हें कुछ कष्ट है क्या ? अच्छा जाने भी दो। मैं न पूछूँगी। हाँ, यह बताओ, तुम अपने जीवन जैसा संगीत सुना सकते हो ?"—वसन्तिका ने मुस्करा दिया, सम्भवतः उसका प्रश्न व्यङ्गपूर्ण रहा हो।

युवक कुछ नहीं बोला। चुपचाप उठा और एक ओर जाने लगा। वसन्तिका युवक के स्वभाव से कौतूहल-मुग्ध हो चुकी थी, मगर साथ ही अनमनी भी। उसने कहा—'जाते हो ?"

युवक ने मुड़ कर एक बार उसे देखा और फिर चलने लगा। वसन्तिका ने फिर पूछा—'क्या फिर कभी आओगे ?"

"कह नहीं सकता शायद हाँ, शायद नहीं।"

युवक चला गया। वसन्तिका उस स्तब्ध रात्रि में वहीं खड़ी थी—आत्म-विस्मृति-सी, भूली-सी ठगी-सी—दूर, बहुत दूर जब प्राची में उषा अपनी माँग सँवारे प्रियतम की बाट जोह रही थी—एक पतली स्पष्ट किन्तु परिचित स्वर-लहरी कानों में अपनी भनक डाल रही थी—

आँसू है और रुदन है,
मूर्च्छा है घोर जलन है—
उफ़, मेरे नन्हें से मन में,
कितना उत्पीड़न है !

× × ×

वसन्तिका कुटी से निकल कर उस व्यथित युवक पर दया दिखाने चली थी, युवक के पास तक पहुँची भी थी, दोनों में कुछ टूटी-फूटी बातें भी हुई थीं, पर वसन्तिका युवक की भलाई कहाँ कर सकी ? युवक कौन है, कहाँ रहता है, उस उपत्यका में क्यों आया था कई दिवसों से रात्रि की नीरवता में वह परिचित गान वसन्तिका के कर्ण-कुहरों में ही क्यों गूँजा करता था, युवक कह रहा था—"वह गाता नहीं, गाने के ढङ्ग में रोता है।" वह क्यों रोता है, उसे क्या दुःख है आदि प्रश्न तो अब तक सुलझे ही न थे। आज यही एक विकट पहेली थी जो वसन्तिका के सुलझाये न सुलझती थी। वह सब कुछ एक बार ही जान लेना चाहती थी, पर जान न पाती थी। वसन्तिका के जीवन में आज पहला अवसर था जब किसी के प्रति उसकी जिज्ञासा भड़की थी। वह बार बार अपने को समझाना चाहती थी कि उसे किसी के सम्बन्ध में क्या प्रयोजन, पर आज जैसे उसका अपने पर अधिकार खो गया था।

हरित तृण-राशि की शैय्या पर वसन्तिका लेटी हुई थी—अलसाई-सी, थकी-सी, ऊबी-सी। आज उसके हाथ पर बैठ कर गान करने वाली शुक पंक्ति जैसे अपनी वसन्तिका को पहिचान न रही हो, प्यार से वसन्तिका के हाथ चाटने वाली गाय को जैसे उसके पास जाकर खड़े होने में भय लग रहा

हो, मृग-शावकों को वसन्तिका को देख कर अपनी चौकड़ी भरना जैसे भूल गया हो।

आश्रम में आज का प्रभात बिलकुल नवीन था, सर्वथा परिवर्तित। आज गमलों में पानी नहीं दिया गया था। सारी फुलवारी मृत-प्राय-सी हवा के झोकों में झल रही थी, सुमन शाखाएँ नव प्रस्फुटित कलियों के भार से अवनत थीं, पर आज कलियाँ हँस नहीं रही थीं—आज उन कलियों को मालिन अन्य दिनों-सी चपल, चञ्चल, इधर-उधर तितली-सी दौड़ती हुई नहीं दिखाई पड़ रही थी। कलियाँ सोच रही थीं—'हा हन्त! यहीं खिल कर मुरझा जाना होगा—मुरझा कर रज कण में मिलना होगा—छिः, आज का जीवन भी कैसा पददलित जीवन है!'

वसन्तिका आज कुछ नहीं करना चाहती—केवल उस युवक की बातें सोचना चाहती है, उन्हें ही जानना चाहती है। और कुछ करने के लिए वह प्रस्तुत नहीं। आज की सारी दिनचर्या पिछड़ी है—पिछड़ी हो रहेगी। उसे अपनी उच्छृङ्खलता पर अपने आप भय हो रहा है, मगर करे क्या। उसकी इच्छा भी तो अपनी इच्छा है। वह अपने ही द्वारा उन्हें कैसे कुचल दे। देखा जायगा जब जो होगा, कर लिया जायगा। वह अपनी प्रथम इच्छा का गला नहीं घोट सकती।

मगर वह बाबा को क्या उत्तर देगी? उनके आसन छोड़ने का समय आ रहा है, अभी उसे शौच, स्नानादि कार्यों से भी तो निबटना है, उसे उठ कर चलना चाहिए और अपनी दिनचर्या का क्रम भंग न करना चाहिए।

वसन्तिका झट उठ पड़ी और अपने दैनिक कार्यों में व्यस्त हो गई। वह अपने कार्यों को करती जाती थी और कानों को

बाबा की पुकार सुनने के लिए उकसाये थी। सहसा क्षण भर पश्चात् किसी ने उसे पुकारा—"वसन्तिके !"

"हाँ बाबा आती हूँ !'—कह कर वह वैरागी की ओर जाने लगी। वैरागी ने एक बार प्यार से वसन्तिका पर अपनी दृष्टि डाली, पर यह क्या ! आज वैरागी की दृष्टि धोखा क्यों खा रही है ? आज वैरागी की वसन्तिका अन्य दिवसों की भाँति चंचल एवं हँसमुख नहीं देख पड़ती, प्रत्युत उसकी गति में मन्थरता एवं मुख में गंभीरता है। समीप आने पर वैरागी ने तीक्ष्ण निरीक्षण करते हुए पूछा—"बेटी वसन्तिके ! आज तुम्हारी चंचलता कहाँ खो गई ?"

"हाँ बाबा, मुझे भी आज विदित होता है जैसे मैं कल जैसी नहीं हूँ।"

"कारण ?"

"मैं कुछ नहीं जानती। हाँ, इतना अवश्य है कि कल रात्रि में जब तुम ध्यानावस्थित थे, मुझे किसी के गाने का स्वर सुनाई पड़ा। उस स्वर-लहरी में व्यथा थी, वेदना का पुट था। मैं उस स्थान तक चली गई। देखा, एक युवक अपने आप गा रहा है। मैंने समझा—कोई दुखिया होगा, इसका परिचय प्राप्त करूँ और यदि कोई सेवा हो सके तो करूँ।—मगर जब मैंने उससे कुछ पूछना चाहा तो मेरे प्रश्नों का उसने समुचित उत्तर न दिया। बाबा ! मैं रात भर उसे ही सोचती रही और इस समय भी उसी की कल्पना मेरे मस्तिष्क में अपना प्रभाव डाले हुए है। बाबा, बता सकते हो यह सब क्या है ?"

वैरागी सहसा गंभीर हो गया। उसके मस्तिष्क में वसन्तिका का प्रश्न चक्कर काटने लगा। उसको समझ में न आताथा कि वसन्तिका को वह प्रत्युत्तर क्या दे। वैरागी कभी

सोचता है कि कुछ कह कर टाल दिया जाय, मगर दूसरे ही क्षण अपने आप कहता—वसन्तिका की जिज्ञासा बड़ी प्रबल है, उसे अर्थ का अनर्थ नहीं समझाया जा सकता। वह सैकड़ों प्रश्न पूछेगी और उनका प्रत्युत्तर जो कुछ मैं दूँगा उससे वह समझ लेगी जैसे मैं उसे ठीक नहीं बताने जा रहा हूँ। उचित है उसके प्रश्न का उचित उत्तर भी दिया जाय। अन्धकार में रखना अनुचित है और यदि उचित भी हो तो भी सम्भव कहाँ। मैंने यह माना कि वसन्तिका अभी यौवन-पथ पर पदार्पण कर रही है। थोड़ी देर तक उसे भुलावे में रखा जा सकता है, मगर बाद में तो अपने प्रश्न का उत्तर अपने आप पा लेगी। वसन्तिका बालिका है, मगर पर्याप्त शिक्षित है। केवल स्वतः अनुभव की कमी है।

बीच ही में बात काट कर वसन्तिका पुनः बोल उठी—"बोलो बाबा, मेरे प्रश्न का जवाब दो?"

"बेटी! कल रात्रि की सारी बातें भूल जाओ। चलो प्रार्थना करने चलें।"

"मगर आज प्रार्थना करने की इच्छा नहीं बाबा! पहले मैं अपने प्रश्न का जवाब चाहती हूँ!"

"वसन्तिके अभी रहने दो! मैं फिर सोच कर बतलाऊँगा। तुम जो प्रश्न मुझसे पूछ रही हो, वह मेरे लिए भी उतना ही जटिल और नवीन है जितना तुम्हारे लिए।"

"पर बताना ज़रूर बाबा! मैं भी सोचती हूँ, तुम भी सोचो।"

"अच्छा चलो बेटी प्रार्थना तो कर ही लें!"

"चलो।"

× × ×

युवक को यह भावना था, यही अन्तर्पुकार थी और यही समझ कर उसका दिल रो पड़ा था—कि कितने ही ऐसे हृदय हैं जो संसार के समक्ष अपने को प्रकट नहीं करना चाहते, कितने ही विफल आँसू हैं जो जलते हुए नेत्र-पथ तक आकर भी पुनः वापस लौट जाते हैं और कितने ही ऐसी फूटी किस्मतें हैं जो टुकड़ों-टुकड़ों में टूट कर और टूट जाना चाहती हैं। ऐसा करने के लिए यदि कहीं उनका कर्तव्य बाँध देता है तो कहीं उनका स्वाभिमान। यदि कहीं निराशा तो कहीं जीवन का महान् व्रत, और यदि कहीं असफलताएँ तो कहीं अपने को उत्सर्ग कर देने वाली मधुर लालसा।

अभी उसी दिन की बात वह सोच रहा था—जहाँ वह एक ओर सर्वस्व त्याग कर दुनिया भूलने आया था और जहाँ वह अपने ही को भूल गया। निर्मम बन कर अपने सुरभित एवं पल्लवित संसार को—केवल कर्तव्य के लिए, महान् व्रत के लिए और जीवन की लोक सेवा में उत्सर्ग कर लेने के लिए—उसने मरु बना डाला।

मगर आह! जब जीवन की विषमताओं से थका हुआ बटोही पल भर के लिए एकान्त के अंचल में मुँह ढँक कर अपनी व्यथा का एक ही बार मधुर गान कर पाया था और पुनः नव-जीवन पाकर, ताजा-टटका होकर अपना पग अनन्त यात्रा के लिए बढ़ाने वाला था, अचानक विश्व की साकार मोहिनी ने स्वतंत्र-विहारी पंखों में बेड़ी डाल दी। वह तिल भर आगे डुल न सका। यात्री को अपनी बेबसी पर क्षोभ, कमजोरी पर रोना आया, पर करता क्या! किसी ने आक्रान्त जीवन में मदिरा उड़ेल दी। फिर वही अतृप्ति, फिर वही

प्यास, फिर वही सागर को सोख लेने वाली तृष्णा। बात की बात में, वह प्यास अगस्त्य बन कर उसके जीवन का सारा रस पी गई। वह अपने अतृप्ति के नशे में मदहोश था। मदिरा तो कहीं नेत्र-प्यालियों पर ढली हुई छलक रही थी—दूर, उससे बहुत दूर और इतनी दूर जिसे वह सामने देख कर भी पा सकने की क्षमता न रखता था। उसकी प्यास उसे ही पीने लगी।

भूल गया कर्तव्य, भूल गया महान् व्रत, भूल गई उत्सर्ग की भावना। हाहाकार मचा, अशान्ति भड़क उठी—हहर-हहर कर होली जली—सब कुछ जलने लगा। यज्ञ-अग्नि की भाँति उस होली में सर्वस्व की आहुति दी जाने लगी—अपना नष्ट होते देख किसे पीड़ा नहीं होती—आह का गान भी निकला, उसने चिल्ला कर गया—

आँसू है और रुदन है,
मूर्च्छा है घोर जलन है—
उफ़, मेरे नन्हें से मन में,
कितना उत्पीड़न है !

एक दिन गाया और दो दिन, कई दिन ! वह गाने का आदी हो गया। वह प्रत्येक रात्रि में केवल गाया ही करता, पर कहाँ, उसका अधिकार भी उससे छीन लिया गया। उस दिन वसन्तिका ने आकर साफ ही तो कह दिया—"बन्द कर दो अपना गाना, वैरागी की कुटिया में संसृति का क्या अर्थ !"

मगर संसृति में एक मोहनी नवयुवती में वैराग्य का क्या अर्थ, यह उसकी समझ में न आया। उसने विचार किया, वह भी तो वैरागी है। वह दिल पर पत्थर रख कर उसकी गली

से लौट आया। देखने के अरमान, मिलने की लालसा, कुछ कहने-सुनने की ललक, कुछ आदान-प्रदान के क्रय-विक्रय रहस्य की जिज्ञासा। उफ़! इन सब पर लात मार कर क्या उसने कुछ कम त्याग किया है? यह उसका सबसे बड़ा वैराग्य है। यह उसको हृदय के प्रति सबसे बड़ी निर्ममता है और यह है जीवात्मा के अन्तर्नाद को अनसुनो कर देने वालो मस्ती। वह क्या अब भी वैरागी नहीं है! कौन कहता है? जिसमें उसके विपरीत बोलने की क्षमता हो सामने आवे। वह समझा देगा कि वह वैरागी है।

फिर आगे वह सोचता—मगर हाँ, एक बात है। उसमें भी एक राग है। एक के प्रति खिंच जाने की अटूट निर्बलता है। एक की ममता में अपने जीवन को पगा रखने की अतृप्त प्यास है। वह इस सांसारिकता को हटाने में है सर्वथा असमर्थ। वह तो प्रतिक्षण न जाने किस निर्मम की स्मृति में मस्त रहता है। कुछ भूला-सा रहता है, कुछ याद-सा करता है, कुछ रो गा लेता है और बुदबुदा कर अपनो अन्तरात्मा से जैसे कुछ कह भी बैठता है—मैं उसे प्यार भी करता हूँ—कल करता था और जिस दिन से उसका हुआ, करता हो जाता हूँ और करूँगा उस दिन तक—जब जीवन की सन्ध्या में अन्धकार का परदा नेत्रों से सट जायगा—उस दिन तक—जब सारी गतियाँ बन्द हो जायँगी, स्पन्दतहीन शरीर-प्राण नीरवता के अङ्क में लिपट कर सोते रहेंगे, और मातृभूमि की गोदी में मृत्यु की चादर ओढ़े, स्वच्छन्द आत्मा से उसी की खोज में विहरेंगे।

अहा तब क्या होगा! न पाप, न पुण्य—न सुख, न दुःख—न लालसा, न तृप्ति। किन्तु आगे वह कुछ न सोच

सका। उसे लौटना पड़ा। एक बार उसने पुनः अपने जीवन पर दृष्टिपात किया। उसे विदित हुआ, उसके जीवन में तुमुल-द्वन्द्व मचा है। कर्तव्य-प्रेम दोनों का प्रबल संघर्षण है। कर्तव्य-प्रेम दोनों चाहते हैं अपनी डफली अपना राग। अपनी सत्ता, अपनी विजय।

इधर कुछ दिनों से उसका जीवन-प्रवाह किसी स्थिर दिशा की ओर नहीं बह रहा है। वह अपने लक्ष्य से दूर जा रहा है। उसे कर्तव्य,महान् व्रत-उत्सर्ग की भावना का भान ही नहीं रहता मगर इस तरह वह जीवन में सफल होगा कैसे? प्रेम तो कर्तव्य च्युत नहीं करता वरन् प्रेम ही कर्तव्य बन जाता है। व्यष्टि से समष्टि की पूजा, समष्टि से व्यष्टि की उपासना, महान् व्रत में परिवर्तित हो जाता है और महान् व्रत के लिये त्याग एवं उत्सर्ग की भावना बन जाती है—त्रिवेणी धारा जिसमें निमग्न होते ही मुक्ति पाँव पलोटा करती है।

वह उठ खड़ा हुआ। जन-समूह से बिछुड़े उसे १५ दिन हो चुके थे। उपत्यका से दूर दो मील पर एक छोटे से गाँव में वह रहने लगा था। वह आया था अपना जल-वायु परिवर्तन करने। आज उसका निश्चय वहाँ से चल देने का हो गया। वह लखनऊ युवक संघ वापस चला आया।

× × ×

"वसन्तिका! कुछ समझ में आया?"

'नहीं बाबा, कहाँ, कुछ भी नहीं!"

"अच्छा, मैं फिर कहता हूँ—यदि उस परदेशी को भूल सको तो भूल जाओ!"

"अरे यह क्या बाबा ! मैं तो तुमसे पूछ रही थी कि मैं याद क्यों करती हूँ, मगर तुम तो कहते हो भूल सको तो भूल जाओ। भूल जाऊँ ? कैसे भूल जाऊँ बाबा ? मैं भूलना ही कब चाहती हूँ। यही तो पहला मनुष्य है जिसे मैं याद रखना चाहती हूँ। सच बताओ बाबा ! तुमने ऐसा क्यों कहा ? तुम्हारे सिवा मैं कब आज तक दूसरे को पहचान सकी। मगर हाँ, उस परदेशी को पहचान गई हूँ। आह, कितना सुन्दर, कितना गंभीर, कितना शान्त वह युवक है। बाबा ! तुमने उसे नहीं देखा, नहीं तो भूल जाने के लिए न कहते।"

वैरागी चुप था। युवा बालिका के वे सरल निर्बोध एवं निष्कपट भाव वैरागी को हत प्रभ से करते जाते थे। यद्यपि वैरागी ने दिन देखे थे—और हमेशा वह वैरागी भी न था पर उसे जीवन में स्वाभाविक प्रेम का नव-प्रस्फुटित अंकुर उगता देखने का पहला ही अवसर मिला था। वह प्रारम्भ से ही नीरस था और उसका सारा यौवन विरसता में, मगर लोक-सेवा के लिए उत्सर्ग हुआ था। मगर आज उसे समझ में आ रहा था कि प्रकृति और पुरुष दोनों कैसे एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। वह लाख बार वसन्तिका को समझा देता था कि एक अविवाहिता युवा बालिका को किसी पुरुष की ओर न आकर्षित होना चाहिए, मगर वसन्तिका अल्हड़पन से मटक कर कह देती थी—'बाबा, तो फिर मैं आकर्षित नहीं होना चाहती। मगर हाँ, उसे विसूरती रहती हूँ। उसकी कल्पना में मुझे सुख मिलता है। मैं गद्‌गद हो जाती हूँ। वह मेरे नेत्र पर झूलने लगता है।'

"तो ठीक है वसन्तिके ! जैसा चाहें वैसा करो। प्रकृति एवं स्वाभाविकता के प्रवाह को रोकने की सामर्थ्य मुझमें

नहीं, मगर इसके अन्तर में जो परिणाम छिपा है उसकी केवल छाया तुम्हारे सुकुमार जीवन को जर्जरित कर देगी. नन्हा-सा जीवन ज्वालाओं का घर बन जायगा। रजत-रात्रि-श्री की भाँति मेरी कुटिया में छिटकी हुई तुम्हारी पवित्र, मोहक एवं स्तब्ध मुस्कान विषाद के अन्धकार में विलीन हो जायगी। और···वसन्ति के !"

"हाँ बाबा !"

"तुम्हें अपरिचित के हाथों जीवन का सौदा बेचकर पछताना होगा। अक्षुण्ण साधना की सारी कमाई लुट जायगी। तुम्हारा तपस्वी जीवन नष्ट हो जायगा।"

'मगर बाबा ! उसके बिना मुझे अच्छा नहीं लगता। तुम्हारी यह कुटिया, सूनी—उजड़ी हुई मालूम पड़ती है।"

"अच्छा ! एक काम करो वसन्तिके ! तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायगा।"

"वह क्या बाबा ?"

"मेरे साथ तुम भी ध्यानावस्थित हुआ करो।"

"ध्यानावस्थित कैसे होना होगा ?"

"अपने नेत्र बन्द करके मन को एकाग्र करना होगा और धीरे-धीरे उसी अवस्था में तन्मय होना होगा। और बहुधा तुम ऐसा करती भी तो रही हो।"

"बाबा ! सच तो यह है कि अब मैं ऐसा न कर सकूँगी। अब तो मेरी तन्मयता का केन्द्र परदेशी बन चुका, उसके लिए जो कुछ कहोगे मैं करूँगी।"

"लेकिन वसन्तिके ! अवज्ञा का फल बड़ा कटु होता है।

तुम अपने आप अपने जीवन को उच्छृङ्खलता के हाथों सौंप रही हो। तुम्हें इसका पश्चात्ताप करना होगा।"

'कर लूँगी—जब वह समय आयेगा देखा जायगा।"

वैरागी अवसन्न हो गया। वसन्तिका का पागलपन कुछ ऐसा नवीन न था जिसका अभिनय संसार के रंगमञ्च पर कभी न देखा गया हो, मगर अपरिचित के लिए पराकाष्ठा से अधिक हृदय में स्थान देना वैरागी को खटक रहा था। वसन्तिका को वैरागी तपस्विनी बनाना कभी न चाहता था, मगर जिस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वसन्तिका का पालन वैरागी के हाथों हुआ था उसके प्रपूर्णता में अभी विलम्ब था।

अचानक वैरागी को अपना अतीत जीवन याद आया। क्षण भर के लिए वह सब कुछ भूल गया। उद्वेलित लहरों-सी प्रत्येक स्मृतियाँ हृदय में उथल-पुथल मचाकर शान्त होने लगीं। उस जीवन का चित्र-पट क्रम-क्रम से उस स्थान तक आकर वैरागी की आँखों में पुनः क्षण भर के लिए रुक गया, जहाँ बालुका-राशि पर पड़ी हुई वसन्तिका एक नवजात-शिशु के रूप में वैरागी को प्राप्त हुई थी। वह वैरागी का यौवन-अवसान काल था।

उन दिनों वह वैरागी न था, गृहस्थ न था, मगर एक लोक-सेवी जीवन था। धनियों एवं पूँजीपतियों की परिभाषा में वह डाकू, हत्यारा, खूनी, निर्दय, नर-पिशाच एवं सब कुछ था, मगर दीन-दुखियों की दृष्टि में वह अन्नदाता था। लुटे-उजड़े हुए का भाग्य था। जुल्म की राह पर घसीटे जाने वालों के लिए रक्षक था।

उस दिन जब वसन्तिका गंगा के निर्जन कूल पर पड़ी हुई संसार की क्रूरता पर हँस रही थी, वैरागी की उचटती हुई

दृष्टि उस पर पड़ी। वैरागी जो क्षण भर पहले आकर कुछ दूर खड़ा गंगा की गोद से किलकती हुई लहरों का नर्तन देख रहा था, चल कर वसन्तिका के पास खिसक आया। प्यार से सँभाल कर गोद में उठा लिया और उन हृदयहीन नर-नारियों पर थूकता हुआ एक ओर चल पड़ा जो अपनी दुर्वासनाओं की विभीषिका में पड़ कर ऐसा जघन्य, क्रूर एवं राक्षसी कर्म कर बैठते हैं, जिन्हें अपने पाप के भण्डाफोड़ हो जाने पर समाज के न्यायोचित दण्ड का भागी होना पड़ता है और जो नर-पशु, अबोध, सुकुमार एवं निष्पाप शिशुओं का गला घोटने तक के लिए नहीं हिचकते।

उसके बाद·····क्रमशः उस दिन की भी याद आई जब वह संसार-सेवा-भार से बिदा लेकर शिशु-सेवा के लिए उद्यत हुआ था। जब वह वसन्तिका के माता-पिता का अनुसंधान न कर सका तो मातु-गंगा के सम्मुख घुटने टेक कर प्रतिज्ञा की थी कि इस नव-जात बालिका का समर्पण या उपहार विश्व को उस रूप में दूँगा जिसकी आवश्यकता होगी व्यक्ति, समाज और देश को। जो वैरागी के उस ऋण को चुका देगी जिस ऋण से वैरागी आज तक अपने को मुक्त नहीं कर सका।

फिर उस दिन से लेकर पन्द्रह वर्षों के वे सारे चित्र वैरागी की पुतलियों में नाचने लगे—बालिका का पालन-पोषण, उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसकी गृह-कार्य-पटुता, उसकी बुद्धि-प्रखरता, प्राणि-मात्र के प्रति उसके हृदय का सरस, निश्छल एवं निर्द्वन्द्व भाव, उसकी व्यावहारिकता, उस मिट्टी के प्रति पूज्य एवं दृढ़ विचार-धाराएँ जिनमें लोट-पोट कर वह बालिका आज अपने को सुन्दर युवती के रूप में देख रही है। सब

कुछ सोचते-समझते वैरागी वसन्तिका के इस उन्माद को देख कर व्यग्र हो गया—आशा-निराशा के द्वन्द्व में उसके प्राण हतप्रभ होने लगे।

आह! उसके दिल में एक दर्द उठा, एक अनहोनी आशङ्का उसे कायर को भाँति उत्साहित करने लगी—एक निराशा का धुँधला चित्र उस आशावादिता के सामने दीख पड़ने लगा। उसने मन ही मन कहा—आज उसका किया-कराया व्यर्थ होने जा रहा है। जिस वसन्तिका से लिए वह वैरागी बना, जिसके लिये उसने लोक-सेवा से मुँह मोड़ा, जिस पर उसने अरमानों के किले बनाये, जिसे उसने अपने हृदय प्रतिनिधि के रूप में संसार को भेंट करना चाहा, वह आज उसकी कुछ भी परवाह न कर, एक अपरिचित परदेशी की स्मृति-माधुरी में भटकने जा रही है। जैसे वैरागो का उस पर कोई अधिकार ही न हो, जैसे वह वैरागी के हृदय की, इच्छा की, उम्मीदों की कोई असलियत ही न समझ सकी हो।

वैरागी आगे कुछ न सोच सका। उसने करुण-स्वर में कहा—"वसन्तिका, आज से क्या यह मैं मान लूँ कि मेरी सेवाओं का बदला तुम कुछ नहीं दे सकतीं?"

"कुछ कैसे नहीं बाबा! सर्वस्व!" एकाएक वह गंभीर हो गई। उसने कहा—"तुम्हारे अतिरिक्त और इस जीवन में किसके लिए समर्पण करूँगी।"

"तो लाओ बेटो! अपना हृदय दो। मैं देखना चाहता हूँ कि जिन भावों की निधि मैंने सँटा-सँटा कर तुम्हारे अन्तर्हृदय में जमाई थी वह अब भी अवशेष पड़ी है' या किसी ने उसे लूट तो नहीं लिया।"

"नहीं बाबा ! वह तुम्हारी देन मुझे लुटा देने का अधिकार ही क्या है। वे सब तुम्हारी हैं और मैंने उन्हें अपने जीवन के अनुरूप बना डाला है। उनके लुटने के बाद वसन्तिका के पास रह ही क्या जायगा। वह निर्धन हो जायगी, मगर निर्धन होने से निर्जीव बनना उसे कहीं अधिक श्रेयस्कर है।"

वसन्तिका के इस उत्तर से वैरागी का अन्तःकरण आनन्द से गद्‌गद हो गया। वह लोक-सेवा का पागल पुजारी अपने भावों हत्या नहीं देख सकता था, अतः आशीर्वाद देते हुए वह बोला—"बेटी ! अब मैं निश्चिन्त हूँ। तुम्हें भी अपनी निर्बलताओं के सम्मुख झुकना न चाहिए। अभी यह वृद्ध वैरागी तुम्हें अपने बुढ़ापे की लकड़ी बनाकर एक बार पुनः संसार में विहार करेगा और तब कहीं जीवन से अन्तिम बिदा लेगा।'

× × ×

प्रकाश इन दिनों लखनऊ युवक-संघ का मंत्री था।

कुछ दिन पहले की बात है, प्रकाश लखनऊ शहर में एक अपरिचित की तरह आया था। न किसी को वह जानता था और न दूसरे उसको। कहते हैं, इसके भी पूर्व वह एक छोटे से नगर में, वहाँ के प्रमुख सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में, जनता तथा वहाँ के शासक के बीच, उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की माँग पर, एक विकट आन्दोलन खड़ा कर चुका था। यद्यपि वह नगर वास्तविक नागरिकता की कोई विशेष परिभाषा न रखता था, फिर भी प्रकाश के उद्योग से वहाँ का आन्दोलन कुछ दिनों तक चला और इसी समय के बीच प्रकाश को जनता की अतुल शक्ति समझने और अध्ययन करने का एक अच्छा सुअवसर मिला। आन्दोलन के फलस्वरूप,

प्रकाश को वहाँ से निर्वासन का दण्ड मिला। प्रकाश बागी ठहराया गया था, जो न !

प्रकाश के जीवन का निर्दिष्ट लक्ष्य था, मानवता की उपासना। वह उसकी पूर्ति के लिए ही, समाज-सेवक बना था, अतः वह अपने निर्वासन के बाद लखनऊ चला आया। उसने आते ही वहाँ के कई युवक कार्यकर्ताओं से परिचय किया। कुछ दिनों तक वह उन लोगों के साथ कार्य करता रहा। चूँकि प्रकाश के विचार उन कार्यकर्ताओं से अधिक प्रौढ़ तथा वजनदार हुआ करते थे, इसलिए स्वाभाविकतः प्रकाश कुछ दिनों में उन लोगों का अगुआ बन बैठा। प्रकाश को उन लोगों ने हृदय से अपनाया।

अभी तक कार्य क्रम जिस गति से चला आ रहा था, प्रकाश उस धीमी गति से सन्तुष्ट न था। उसने नये सिरे से एक युवक-संघ की स्थापना की। पुराने संघ के विचारों तथा उद्देश्य में थोड़े बहुत परिवर्तन किये और इस तरह उसने अपने नव-परिवर्तित संघ के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण एक ऐसे ढंग से किया जिसे वहाँ की सम्बन्धित जनता ने आकर्षित होकर स्वीकार किया। उसने बतलाया—"आज हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। आज हमारा सामाजिक, नागरिक, सार्वदेशिक जीवन इतना पतित हो चुका है कि सड़े कोढ़-सी चारों दिशा से बदबू आ रही है। मस्तिष्क इस दुर्गन्धि से भिन्ना उठा है और इतने पर भी पाप अलग अपना सर्वनाशी नर्तन दिखा रहा है। देश की प्रत्येक आपदा की जड़ और उसका जीवित पाप, गरीबी के रूप में, प्रत्येक देशवासी के जीवन पर छाया हुआ है। संघ का विशाल उद्देश्य, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आध्या-

त्मिकता की प्राप्ति है। यह संघ भी, एक रूप में महासमिति के उन सारे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होगा जिनकी प्राप्ति पर देश का दारोमदार है।"

प्रकाश ने केवल समझाया हो, ऐसा नहीं, उसने रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाया। देश के लक्ष-लक्ष अशिक्षित प्राणियों की सदियों से खोई हुई प्रतिभा को चमत्कृत कर, अपने लक्ष्य की भावना का उदय करना. उसने अपना पहला कर्तव्य समझा। अशिक्षा का नाश, अपने सिद्धान्तों तथा सन्देशों का प्रचार, युवकों का शारीरिक, मानसिक एवं अध्यात्मिक संगठन ही युवक-संघ का पहला कार्यक्रम बना।

प्रकाश के सामने होनहार कार्यकर्ता आये। प्रकाश ने उन युवकों के हृदय में छलकता हुआ यौवन का वह उन्माद देखा, जिसकी बेहोशी में वे अपनी सदियों की खोई हुई स्वतंत्रता की प्राप्ति में, अपना सर्वस्व कुरबान करने को तैयार बैठे थे। प्रकाश ने निधि की तरह सँभालकर उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और तब वह लगा उनमें अपनी भावनाओं को भरने, जिन भावनाओं में क्रान्ति का दर्शन हो रहा था।

प्रकाश के अधिक अन्तरङ्ग मित्रों में बनमाली और दिनेश मुख्य थे। प्रचार-कार्य की सारी ज़िम्मेदारी इन्हीं पर थी। प्रकाश की प्रत्येक विचार-धारा इन्हीं दो किनारों का सहारा लेकर प्रवाहित होती थी और देखते-देखते वह अनन्त हो जाती थी।

प्रकाश अपने कार्यक्रम में आगे बढ़ता ही जा रहा था। सहसा उसके जीवन ने पलटा खाया। वह बीमार हुआ। विन्ध्य की घाटियों में बीमारी दूर करने गया, किन्तु कुछ ही

अरसे बाद वह एक नई बीमारी लेकर आया और वह थी एक नारी के दर्शन की प्यास। न जाने वह क्यों और कैसे उसके अन्तरङ्ग में जागृत हुई।

प्रकाश ने न तो अपना भेद किसी पर प्रकट ही किया और न वह उस नारी की तलाश में ही बढ़ सका। तलाश तो क्या करनी थी; पर वह जिसके लिए व्यग्र था, उसके दर्शन तो असंभव ही थे। वह थी वसन्तिका—प्रकाश से कई सौ मील दूर। प्रकाश जीवन के कई ज़रूरी प्रश्नों पर उलझ कर ही सब भूल जाना चाहता था।

प्रकाश ने ज्यों-त्यों करके दो वर्ष बिता दिये। उसके संघ का कार्यक्रम जारी रहा। वह स्वयं संघ का मंत्री-पद ग्रहण किये हुए था; किन्तु उसके हृदय की आग बुझ न सकी। वह अन्दर ही अन्दर धधकती रही। प्रकाश समझता रहा कि वह लम्बे दिनों में अपने आप ही भूल जायगा; पर उसकी यह कल्पना व्यर्थ साबित हुई। प्रकाश ने देखा—उसके जीवन में जो द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ है, वह अब दबाये नहीं दबता। एक दिन प्रकाश ने एक अनिश्चित समय के लिए मंत्री पद से अवकाश ग्रहण कर लिया।

प्रकाश चाहता था कि मंत्री का पद यदि कोई योग्य व्यक्ति सँभाल लेगा तो प्रकाश सामाजिक हितों की हत्या के पाप से बच जायगा; क्योंकि वह अपनी सारी शक्तियाँ लगा कर भी अपना काम उस गति से नहीं चला रहा था, जिस शक्ति का परिचय उसने पहले दिया था; फिर भी संघ के कार्यकर्ताओं ने प्रकाश की प्रार्थना पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इतना प्रकाश ज़रूर कर सका कि कुछ दिनों के लिए पुनः अपना भार

किसी साथी को दे दे और फिर अपने पद को आकर ग्रहण कर ले।

प्रकाश कहने के लिए चुपचाप बैठ तो गया; किन्तु उसके मन में विराम न था। लखनऊ में उसे कोई सुख न मिलता था, एक दिन उसने पुनः विन्ध्य की घाटी की यात्रा निश्चित की। वह अपनी यात्रा में जाने ही वाला था कि एक दिन उसका मित्र दिनेश गाँवों का दौरा करके लौटा और प्रकाश से मिलने आया। प्रकाश के अवकाश ग्रहण करने की खबर आते ही उसे लग चुकी थी।

प्रकाश ने दिनेश से मिलते ही गाँवों की चर्चा छेड़ दी।

उसने पूछा—'आज-कल गाँवों की क्या हालत है दिनेश?"

"भाई, अवस्था तो करुणाजनक ही है।"

'तुमने लोगों को कोई तरकीब सुझाई या नहीं?"

"जहाँ तक हो सका, मैंने किसानों को अशिक्षा के पाप से बचने के लिए बहुत उकसाया है। अपने सारे दौरे में उन लोगों से केवल यही प्रार्थना करता रहा कि अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए अपने आप तथा अपने बच्चों को शिक्षित बनायें। जब उनके बच्चे अपने तथा समाज के चारों ओर बिलखता हुआ अभाव देखेंगे तो या तो वे अपनी अपूर्णता दूर करने का पथ खोज निकालेंगे। उस समय जैसा भी उचित होगा देखा जायगा। मगर उनका प्रत्युत्तर यह है कि पास में पैसा नहीं है, खाने को दाने नहीं हैं, रहने के लिए साफ़-सुथरे विस्तृत घर नहीं, तन ढकने के लिए वस्त्र नहीं और नहीं हैं दीपक जलाने के लिए तेल। वे किसी तरह पशु-सा जीवन बिता लेते हैं। परिश्रम करते हैं, मगर विश्राम नहीं लेना

चाहते। कुछ खा लेते हैं, मगर स्वाद का उनके भोजन से कोई सम्बन्ध नहीं। अपनी लज्जा किसी भाँति निवारण करते हैं, मगर इस प्रश्न का उत्तर कुछ ठीक नहीं कि कपड़ा कब खरीदा गया था और आज के जीर्ण रूप में उसके कितने टुकड़े हो चुके और कितने टुकड़ों का अस्तित्व भी नहीं है। भाई प्रकाश ! सच तो यह है कि उनकी प्रतिष्ठा, उनका स्वाभिमान, उनका बल, उनका धन, उनका चातुर्य सब कुछ लूट लिया गया है। वे माता-पिता की निर्लज्ज वासनाओं के प्रतिफल-स्वरूप जीवधारी अवश्य हुए हैं; मगर उनमें जीवन कहाँ है। न उनके माता-पिताओं ने अभाव की अशांति का कभी अनुभव किया, न आज उनमें भावनाएँ ही अवशेष रह गई हैं। प्रत्येक आपत्तियों को बेचारे अपना कर्मफल मानते हैं। उनकी समझ में कोई दोषी नहीं, सम्पूर्ण दोष उन्हीं का है। ग़रीब, इतने हैं सरल, इतने भोले।"

"हाँ दिनेश, यह तो सच है कि वे दिन भर परिश्रम करने के बाद अभी केवल रोटी चाहते हैं। जब उदर-पूर्ति का प्रश्न हल हो जायगा तब वे आँख फैलाकर संसार को ईर्ष्या भरी दृष्टि से देखेंगे और समझने का प्रयास करेंगे कि हमें क्यों जीवन में वैसी ही प्रत्येक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त नहीं जैसी कि अन्य जातियों या अन्य देश के निवासियों को हैं। वे सोचेंगे कि क्या उनका रक्षक देवता और हमारा पालक राक्षस है ? क्या सत्तावादी इतने स्वार्थी हो जाते हैं कि उनकी पशु वृत्तियाँ जागृत होकर, अपने ही आश्रित का रक्त चूसने लगती हैं जबकि लोक-मतवादी देवता बनकर अपना एवं अपने समाज का हित करते हैं ?"

"मगर प्रकाश ! कठिन तो यह है कि रोटी का ही प्रश्न

कैसे हल किया जाय, देश की पूँजी तो गिने-चुने व्यक्तियों के हाथों है जिनमें उपकारी तो नहीं के बराबर हैं। केवल अधिक समूह उन्हीं का है जो व्यसनी हैं, जिन्होंने कपट की छूरी से भोले व्यक्तियों का खून चूस-चूस कर अपनी तोंद बढ़ा रक्खी है। जो जुआ, व्यभिचार, यश एवं ख्याति की उपासना में द्रव्य पानी की तरह बहा देते हैं; मगर उदारता के नाम पर जोंक की भाँति सिकुड़ कर बैठ जाते हैं। बताओ, इनसे कैसे उद्धार मिले। इनके चंगुल से छूटना आसान नहीं।"

"कुछ भी हो दिनेश! तुम अपने लक्ष्य पर डटे रहो। जो पढ़ सकें उन्हीं को ही प्रोत्साहित करते रहो। एक दिन आयेगा जब पढ़-लिख कर भी लोग भर पेट अन्न न पा सकेंगे, तो वे समझने का प्रयास करेंगे कि किन कारणों से उनका आज अधःपतन है और वे मनुष्य बनने की कामना रखते हुए भी क्यों मनुष्य नहीं बन सकते।"

"भाई, मैंने आदर्श तो तुम्हारे जीवन से पाया है और उसी का प्रतिफल है कि मेरे हृदय में भी वैसा ही स्पन्दन होता है जैसा दुखिया का दुःख देखकर एक उदार एवं महान् के हृदय का होना चाहिए। कभी-कभी तो प्रतिक्षण यही ध्यान रहता है कि अपने इन्हीं भिखारी भगवान् की उपासना में समय व्यतीत करूँगा, उनके रोने के साथ मिलकर रोने में मुझे अक्षय सुख मिलता है। तुम्हारी दया यदि बनी रहो तो सारे जीवन मैं अपने लक्ष्य की ओर अधिकाधिक बढ़ता रहूँगा।"

अचानक दोनों ने नौ बजने का घण्टा सुना। प्रकाश उठ खड़ा हुआ और बोला—'दिनेश, चलना चाहिए। कल मुझे बाहर जाना है, आज ही रात्रि को सारी तैयारियाँ करनी

होंगी। अच्छा हुआ, तुम भी मिल गये। संभवतः कल तुमसे मुलाकात हो या नहीं!"

दोनों मित्र आपस में बातें करते-करते शहर में घुस पड़े। दिनेश अपने घर पहुँचा और प्रकाश अपने डेरे में आकर कल की तैयारियाँ करने लगा। रह-रह कर उसे बीते दिनों की याद आने लगी। हृदय जैसे कहता जाता था—तुम बुरा कर रहे हो। तुम्हारे जीवन में अकर्मण्यता का प्रवेश हो रहा है। संघ से त्याग-पत्र देकर चलना अनुचित है। जब मानव-कर्ममय जीवन व्यतीत करना है तब उसकी मानसिक व्याधियाँ बहुत तो इसलिए नष्ट हो जाती हैं कि उसके सोचने का व्यक्ति के पास अवकाश ही नहीं रहता और बहुत इसलिए पुनः जन्म नहीं लेतीं कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं का दास नहीं, वरन् उनका स्वामी है। इन्हीं भावनाओं की याद उसे भी रखनी चाहिये। जिस अशान्ति से मुक्ति पाने के लिए वह अपने जीवन के ध्येय से पिछड़ना चाहता है, वह अशान्ति इस रूप में और बढ़ जायगी जब उसे दिन भर भूलने की चेष्टा करेगा। अरे, कोई भी स्मृति तभी नष्ट की जा सकती है जब भूलने के नाम पर उसे बार बार याद न किया जाय, मगर दूसरे ही क्षण उसकी बदलती हुई विचार-धाराएँ कहतीं—"चलो तुम्हारे जीवन की शान्ति—यही अशान्ति दे। इसी में घुलो, इसी में पानी बन कर बह जाओ, अपनी विभिन्न सत्ता रखना अनुचित है। संसार का प्रत्येक पुरुष बिना स्त्री-प्रेम के अपूर्ण है। उसका जीवन स्त्री के अनुराग-प्यार से अपने को रंग कर अधिक सफल हो सकता है। यदि पुरुष साधक है तो स्त्री उसकी सिद्धी है। पुरुष की आधी शक्ति स्त्री में सन्निहित है, बिना स्त्री की पूजा के उसका जीवन व्यर्थ है। पुरुष को तृष्णा की,

अभाव का, अशान्ति का हरने वाला साधन स्त्री के पास है। उसकी एक मादक चितवन में, उसके रूप के भोलेपन में, और है जादू भरे उन शब्दों में, जिनके सम्बोधन से पुरुष का रोम-रोम पुलकित हो उठता है।'

इतने समय में प्रकाश ने कभी एक स्त्री की आवश्यकता क्यों नहीं समझी, इसलिए कि वह ठगा नहीं गया था। उसका पुरुष-हृदय, जिसके समक्ष स्त्री की आवश्यकता कभी नहीं हुई थी, आज एक स्त्री के लिए अपना कर्मनिष्ठ जीवन भी ठुकराये जा रहा था। उसे सूझता कुछ न था। उसका पथ-प्रदर्शक भी कोई न था। केवल उसका व्यक्तित्व था और उसका हृदय।

प्रकाश संभवतः यही सब समस्त रात्रि विचार करता रहता; मगर बनमाली के अचानक आ जाने से उसे अपना ध्यान बनमाली की ओर आकृष्ट करना पड़ा। बनमाली ने आते ही कहा—"प्रकाश, संघ ने किसी भाँति तुम्हें अस्वस्थ जान कर अवकाश दे दिया है, मगर उसकी प्रार्थना यह है कि प्रकाश यदि जंगलों में रहे तो वहाँ भी भयंकर एवं हिंसक पशुओं के पशु-बल को कम करने का प्रयास करता रहे। इतना ऊँचा संदेश संघ का है और मैं समझता हूँ तुम इस सिद्धान्त की गहराई भली भाँति जानते हो।"

प्रकाश बोला—"भाई बनमाली! संघ का जो सन्देश है उसका पालन करूँगा, लेकिन कुछ दिनों के लिए मैं अपना निश्चित मन्तव्य नहीं प्रकट कर सकता कि उस समय मेरी दिनचर्या का प्रवाह कैसा होगा। इसी एक निर्बलता के कारण मैं कर्त्तव्य-कर्म से भी विमुख होने जा रहा हूँ।"

बनमाली—"सोचो प्रकाश! संघ को तुमने जीवन दिया

है। संघ के उद्देश्य शिक्षा, स्वतन्त्रता, सुख एवं शान्ति है। इनके वास्तविक रूप का परिचय देना संघ का कार्य है। समाज एवं देश का कल्याण एवं उद्धार इन्हीं बातों पर हो सकता है, इसलिए तुम्हारा शान्ति से बैठ जाना हानिकर होगा। इतने दिनों के बीच जब कभी तुमने इस प्रश्न का उत्तर दिया है, हमेशा वह अस्त-व्यस्त रूप में पाया गया। क्या कारण है तुम जैसा सिद्धान्त-प्रिय एवं हठधर्मी व्यक्ति लहरों की तरह चंचल है ?"

प्रकाश—'तुम जो कुछ भी कहते हो वह असत्य नहीं; मगर यह बात—कि क्षण भर पश्चात् किसी वस्तु को या घटना को किन गम्भीर नेत्रों से देखना होगा—मैं नहीं बतला सकता। ऐसी ही कुछ पहेली जैसी घटनाएँ हैं जो मेरे जीवन में घट गई हैं और जिन्हें मैं उड़ती हुई धूल की भाँति अपने से दूर हटा देना चाहता हूँ, किन्तु विवश हूँ। मैं कुछ नहीं कर सकता।"

"किन्तु उन घटनाओं की क्या तुमने कभी चर्चा की ?"

"क्या होता चर्चा करके। जहाँ वह बात आज मेरे जीवन की सबसे जटिल समस्या है, वहाँ वह दूसरों के समालोचना की वस्तु होती, इसलिए मैंने उसे गोपनीय ही रक्खा।"

बनमाली प्रकाश का बहुत ही मुँहलगा मित्र था। उसने प्रकाश की नब्ज़ टटोली और झट उस पर सवार। बनमाली ने आज भी वही किया—"तो बताओ न !"—उसने तनिक व्यङ्ग से कहा—"वह कौन सी ऐसी भेद भरी बात है जिसमें तुम्हें हतप्रभ और निकम्मा बना डालने की शक्ति है ?"

"तो सुनो, बनमाली, कुछ दिनों से मेरे सामने मेरे जीवन-मरण जैसा प्रश्न उपस्थित हो गया है, वह है एक

नारी के प्रेम की प्यास! तुम्हें याद होगा दो वर्ष पूर्व मैं विन्ध्य की घाटी में अस्वस्थ रहने की दशा में जलवायु परिवर्तन करने गया था, उसी समय वहाँ मैंने एक ऋषि-कन्या को देखा था। यह बात जिस समय की है, उन दिनों भी मैं कम अशांत न था, पर इस नये रोग की सृष्टि तो नहीं हुई थी। उसी समय समय मैंने अपने आप में एक विचित्र परिवर्तन देखा। मैं पलों और मिनटों में उस कन्या पर आकर्षित हो गया। उस अंकुर नया था। मैं वहाँ से वापस लौट आया; पर अशांति भी साथ ही लाया। आज देखता हूँ कि यदि मैं उसे प्राप्त करने की बात सोचता हूँ तो मेरे सारे सिद्धान्तों तथा आदर्शों का खून हुआ जाता है। मैं अपने को मनुष्य नहीं समझ सकता और यदि सिद्धान्तों तथा आदर्शों की रक्षा में ही अड़ा रहना चाहता हूँ तो जीवन शुष्क और सारी दिनचर्या व्यङ्ग जैसी लगती है। समझ में नहीं आता कि कैसे उस व्यापक क्षेत्र से सफल होकर निकलूँगा जिसमें एक बार मानवता की सेवा के लिए घुस चुका हूँ।

आज मेरी एकाग्रता का बँटवारा हो चुका है। जिन सिद्धांतों को जीवन का रस पिला कर मैंने जाग्रत किया था, वे मेरी इस अशांति में बेतरह झुलस रहे हैं। मैं अपना निश्चित पथ जानकर भी बावलों की तरह गुमराह हो रहा हूँ। यदि मेरी आत्मा सिद्धांतों का संरक्षण चाहती है, तो मेरा मन दूसरी ओर ही छँलागें मारता है। मेरी प्रतिभा एक रमणी की स्मृति में अटकी है।"

बनमाली प्रकाश के अन्तर्द्वन्द्व से परिचत तो हो गया, पर प्रकाश की निर्बलता को बढ़ने देना उसे अप्रिय लगा—

"क्रान्ति के उपासक !"—उसने कहा—"तुम्हारा जीवन-पथ कठोर है। नारी की ममता में प्राणों को लगाये रखना अनुचित है। देख रहे हो, तुम्हारे जीवन पर अकर्मण्यता का धावा है ! तुम उसे सँभाल नहीं सकते। सत्य स्पष्ट है। यदि यही क्रम रहा तो नारी-प्रेम की प्यास अपवाद बन कर तुम्हारे सारे सदुद्देश्यों को कीर्ति को नष्ट कर देगी। चुन लो जो तुम्हें पसन्द आये।'

'पसन्दगी की तो कोई बात नहीं, बनमाली ! इस समय तो बेहद लाचारी है, फिर भी यह बात ज़ोर देकर कह सकता हूँ कि आदर्श और सिद्धान्तों को तो, कभी हत्या कर ही न सकूँगा, भले ही हृदय की उन्मादिनी आशाओं का ख़ून हो जाये। जीवन का जीवन अतृप्ति में तड़पता रहे, तब भी कदम जिस ओर बढ़ चुका है वह लौट नहीं सकता।'

बनमाली ने देखा कि निशाना वहीं लगा है, जहाँ वह मारना चाहता था, फिर भी वह प्रकाश पर प्रहार ही करता गया। उसने कहा—"प्रकाश ! एक ओर तो तुम पिछड़ते हो जा रहे हो। तुम अवकाश चाहते हो, अपने उस जीवन से, जिसका अनुकरण करने के लिए कितने ही युवक तुम्हारी ओर दौड़ आ रहे हैं।'

'किन्तु अवकाश सदा के लिये नहीं चाहता। अपने उद्वेलित हृदय की, असहिष्णु थपेड़ों की चोट को एकान्त में मलना और दबाना चाहता हूँ, इसीलिये मैंने अवकाश लिया है।"

'अच्छा प्रकाश, तुम कहते हो कि तुम्हें नारी के प्रेम की प्यास है, यह कैसी ! कल्पना कर लो, तुम्हारी प्रेयसी तुम्हें

प्राप्त हो जाती है, तब ! क्या तुम पत्नी-रूप में उसे स्वीकार करोगे ?"

"नहीं बनमाली ! मेरे इस प्रेम-व्यापार में शारीरिक मिलन की कोई कल्पना नहीं है। मैं जिस पथ पर चल रहा हूँ, उस पर एक स्त्री का पति बन कर चलना मेरे लिये असंभव होगा। अपनी दुनिया बसाने के लिये मेरे पास अधिक समय कहाँ; किन्तु यह लालसा अवश्य जागृत है कि यदि वह भी मेरे ही पथ की ओर अपना रुख मोड़ ले तो मैं अपने क्षेत्र में अमित साहस के साथ बढ़ूँ। मैं सदैव त्याग की भावनाओं द्वारा जीवन का शृङ्गार करना चाहता हूँ। यदि मेरे प्रेम की तृष्णा में वह भावना और अधिक उत्तेजित हो उठे तो जानते हो— मानवता की उपासना में मैं अपना भाग अधिक सम्पन्नता-पूर्वक प्रदान कर सकूँगा।"

"क्या मैं जान सकता हूँ कि तुम दोनों का प्रगाढ़ परिचय हुआ या नहीं ?"

"यही तो काँटा है, बनमाली ! परिचय के लिए तो वह व्यग्र अवश्य थी, पर मैंने ही टाल दिया था।"

"क्यों ?"

"इसीलिये कि मेरी भावना थी कि मैं भूल जाऊँगा।"

बनमाली प्रकाश की समस्या का हल और कर ही क्या सकता था, सिवा इसके कि वह प्रकाश के बढ़ते हुए उन्माद को रोके।

बनमाली ने बातों के क्रम को बदलते हुए कहा—"दिनेश अपने दौरे से वापस आ गया है। उसने अपना कार्य भी सफलता-पूर्वक सम्पादन किया है, न हो तो तुम भी एक बार गाँवों का दौरा करते हुए भ्रमण कर आओ। एक साथ दो

बातें हो जायँगी। इधर-उधर के विभिन्न-जीवन के दृश्यों में मन भी बहल जायगा और साथ ही समय का सदुपयोग होगा।"

"ऐसा ही करूँगा, पर मेरी अनुपस्थिति में यह न समझना कि मैं केवल संघ का ही कार्य कर रहा हूँ। इन कामों को तो उसी लगन से चलाते रहना वनमाली! मैं एक सपना देखा करता हूँ।"

"वह क्या?"

"मेरा संघ इतना रचनात्मक कार्य क्रम करने लगे कि वह ग़रीबी के पाप को छिन्न भिन्न कर डाले। दिनेश ने गाँवों का जो चित्र खींचा है, वह सचमुच महान शोचनीय है। इन मुट्ठी भर हड्डियों वाले किसानों के शरीरों में दधीचि की आत्मा प्रसुप्त है। वह जागृत होते ही अपनी सूखी हड्डियों द्वारा ही राक्षसी बल से मोर्चा ले सकेगी। हम लोगों को इन्हीं किसानों के बल पर ही अपना मोर्चा लड़ना है। परमात्मा वह दिन शीघ्र लाये, जब ज़ालिमों के कुकृत्यों के प्रति इन सब की भावना भड़क उठे। ये शरीर के प्रति निर्मल बन कर, अपनी भावी संतानों की सुख-शांति के लिए एक हृदय से आज़ादी की लड़ाई में जुट जायँ।"

"संघ का प्रयास तो यही है और अपने उत्तरदायित्व के पलड़े को भारी देख कर भी किसी प्रकार की निराशा तथा चिन्ता का नाम नहीं। प्रकाश! यह तो सच ही है—जहाँ चाह है, वहाँ राह है। यदि दिल में आज के गुलाम और दलित जीवन के प्रति सच्ची घृणा उत्पन्न हो चुकी है तो वातावरण को अनुकूल बनाने में कोई कठिनाई न होगी। सफलता पर सन्देह करने की गुञ्जाइश ही नहीं।"

वनमाली की बातों ने प्रकाश पर अपना अच्छा असर डाला। वह कई तरह की बातों से कुछ न कुछ तो अधिक ही प्रोत्साहित हुआ। उसने कहा—"वनमाली! मैंने अपनी जिस बात को वर्षों से छिपा रक्खा था, उसे आज तुम पर प्रकट कर मैं तनिक हल्का हो गया। अब मैं कल अपनी यात्रा के लिए रवाना होऊँगा।"

"और शायद पुनः तुम उसी ओर जाओगे भी!"

"हाँ, मेरा विचार तो विन्ध्याचल तक जाने का है। मुझे वहाँ बड़ी शान्ति मिलती है।"

वनमाली एकाएक हँस पड़ा; मगर क्षण भर पश्चात् ही बोला—'प्रकाश! आज मैं सत्य समझ गया। मेरी धारणा ग़लत न थी। मुझे तुम पर उसी दिन से यह सन्देह होने लगा था जिसका भेद तुमने आज खोला है; किन्तु सदैव यह ध्यान रखना कि प्रेम की मधुर पीड़ा की चिलकन केवल परोपकार एवं समाज सेवा में ही थोड़ी बहुत कम हो सकती है और इन सेवाओं के बीच यदि व्यक्ति चाहे तो जीवन भर अपनी व्यथाओं को भूला रह सकता है। इसलिए जहाँ तक संभव हो यदि भुला सकना तो बीती बातों को भूल जाना और यदि न भूल सकना तो अपने उस उद्देश्य से भी न पिछड़ना जिसे एक बार तुमने अपनाया है। बस, मैं यही तुमसे कहना चाहता था। अच्छा अब मैं जाता हूँ। तुम भी जाकर सो रहो।"

प्रकाश एक अनिश्चित समय के लिए वनमाली से बिदा लेकर सो रहा।

× × ×

प्रातःकाल का समय था। वैरागी अपनी कुटिया से निकल कर उपत्यका के चारों ओर घूम रहा था। आजकल उसकी

दिनचर्या अस्त-व्यस्त रहती थी। करने के लिए सब कुछ करता था ; किन्तु उसके वैरागी जीवन की एकाग्रता नष्ट हो चुकी थी। वसन्तिका के जीवन ने उसकी साधनाओं के के साथ अपना एक ऐसा भार उस पर छोड़ रक्खा था जिसकी पूर्ति के लिए वह प्रत्येक क्षण व्यग्र रहता था। एक के बाद दूसरे दिन बीतते जाते थे। वैरागी की चिन्ता भी बढ़ती जाती थी। उस दिन जब झरनों के पास से होकर वैरागी आ रहा था, उसने देखा वसन्तिका उसकी ओर पीठ किये कुछ बुदबुदा रही है। वैरागी चुपचाप वसन्तिका के पीछे, वृक्षों के झुरमुट की आड़ में जाकर बैठ गया। वसन्तिका एक प्रस्तर-खण्ड के नीचे पैर झरने में लटकाये हुए कह रही थी—"एक परदेशी की चाह में अपने जीवन को कभी न डुबाना चाहिए। परदेशी को प्यार करने की लालसा जीवन के सारे रस को चूस लेती है। शरीर निर्जीव-सा होता जाता है—प्राण स्पन्दनहीन होते जाते हैं।"

वैरागी का हृदय वसन्तिका के हृदय पर गड़ी हुई फाँस को देख कर चिहुँक उठा। उससे न रहा गया। वह करुण स्वर में बोल उठा—"किससे बातें करती हो बेटी ?"

वसन्तिका अवसन्न थी। उसके सारे जीवन में अवसाद छाया हुआ था। वह अपने उन्माद में मस्त थी। वह वैरागी की बात नहीं सुन सकी, क्षण भर मौन रहने के बाद पुनः कहने लगी—स्वच्छ जल के ये प्रपात जो पृथ्वी का हृदय फाड़ कर निकले हैं, सचमुच ज्ञानी हैं। मानव जैसे शरीरधारी की भाँति संसार के प्रवाह में पड़ कर अकर्मण्य नहीं हो जाते, सदैव बहते रहते हैं दृढ़ भाव से, अविरल गति से। कोई रोक, कोई बाधा, कोई प्रलोभन इन्हें लक्ष्य-

हीन नहीं बना सकता। जो इनकी गति रोकने की चेष्टा करता है—ये उसे भी अपने प्रवाह में लेकर बह जाते हैं। बड़े-बड़े प्रस्तर-खण्ड, वज्र जैसी कठोर पर्वत-मालाएँ, प्राकृतिक स्थलों का उतार-चढ़ाव जब इनके पथ को रोक लेते हैं तो ज्वालामुखी की भाँति विस्फोट कर यह आगे आते हैं और अपना मार्ग साफ-सुथरा बनाने के लिए ऊँचे टीले और कगारों को ढहा देते हैं, मगर पथ-भ्रष्ट नहीं बनते। सदैव अपनी लगन में तल्लीन, मूक हृदय से जीवन की संगीत-लहरी को सुनते हुए बढ़ते जाते हैं, किन्तु मानव कितना निर्बल होता है, कितना दीन, कितना असहाय। तनिक से आघात पर तिलमिला उठता है। उसकी निराशाएँ सारा जीवन शून्य बना देती हैं। उसका उत्साहहीन हृदय व्याधाओं की जड़ में अपनी निर्बलता का पानी उड़ेल कर उन्हें और हरा-भरा बना देता है। उसके जीवन का प्रवाह वहीं रुक जाता है।

"बेटी वसन्तिका!"—वैरागी उसके कंधों पर हाथ रख कर बोल उठा 'मेरी ओर देखो।'

"कौन, बाबा!'

"हाँ बेटी!"

'क्या चाहते हो?"

'क्या बताऊँ बेटी! मैं चाहता हूँ तुम्हारे जीवन का सदुपयोग।"

'सदुपयोग! मेरे जीवन का सदुपयोग।"—अपने आप ही कहकर बुदबुदा उठी और पुनः बोली—'हाँ और क्या चाहते हो बाबा?"

"'और! बस, कुछ नहीं।"

"किन्तु मैं क्या चाहती हूँ ?—इसे भी जानना चाहते हो ?"

"हाँ चाहता तो हूँ. मगर जान नहीं पाता !"

"ठीक कहते हो बाबा ! जब मैं स्वयं ही नहीं जान पाती, तब तुम कैसे जान सकोगे; लेकिन बाबा ! विषाद के जो काले बादल मेरे जीवन-आकाश पर छाये हुए हैं, क्या वे प्रलय तक शांत होंगे ?"

'यही तो मैं भी सोचा करता हूँ वसन्तिके ! अब तुम मुझे उतना ध्यानावस्थित कहाँ देखती हो। मुझे भी केवल तुम्हारी ही चिन्ता है।"

"तो एक काम करो बाबा !"

"क्या ?"

'चलो हम तुम दोनों इस कुटिया को छोड़ दें। चलकर संसार देखें ! संसार के नित्य-जीवन के साथ अपने जीवन को मिला लें। यद्यपि जिस शान्ति की खोज में प्राण आकुल हैं उसका एकाएक मिल जाना संभव नहीं, लेकिन जब जीवन के सामने कोई निर्दिष्ट लक्ष्य ही नहीं, तब यही उचित है कि तूफानी सागर की उद्वेलित लहरों में जीवन-नौका छोड़ दे। फिर भगवान जाने ! पार लगाये या डुबो दे !"

"वसन्तिका ! क्या आज तुम्हें इस कुटिया का मोह नहीं ? सोचो, तुमने अपने जीवन के पन्द्रह वर्ष इसी कुटिया में हँस-हँस कर बिताये हैं ! जब तुम्हें इस नीरवता में शान्ति नहीं मिल रही तब संसार के कोलाहल में--जहाँ प्रत्येक क्षण स्वार्थ में, प्रलोभन में तथा कपट-दम्भ में बीतता है—कैसे सुख प्राप्त होगा !"

'बाबा ! आज मेरे सामने कोई मोह नहीं और न सुख-दुःख का ही प्रश्न है। जब जीवन भर की सारी स्मृतियाँ—

जिनमें मुझे कभी सुख-शांति की छाप लगी हुई दिखाई देती थी आज स्वप्न-व्यङ्ग सी हैं तब बहुत संभव है आज का दुःख कल के दिन सुख का रूप ले ले या यही दुःख बढ़ कर इतना अनन्त हो जाय जहाँ सुख की प्रति-छाया का कोई अस्तित्व ही न हो। मैं सुख-दुख दोनों में मस्त हूँ—दोनों में बेपरवाह रहूँगी, लेकिन आज के जीवन में परिवर्तन चाहती हूँ, फिर चाहे वह कैसा भी परिवर्तन क्यों न हो। जब तक परिवर्तन की इच्छा न थी तब तक ज्ञात नहीं, क्या दुःख था क्या सुख था, किन्तु जिस दिन से इस भावना ने जन्म लिया है मेरा समग्र जीवन नवीन परिवर्तन की लालसा में तड़प रहा है।"

"अच्छा चलो बेटी! तुम्हें जो सुखकर होगा उसी में मेरा भी सुख है और मैं तुम्हारी भावुकता के समक्ष निर्बल बन्दी-सा अपने जीवन की अन्तिम लीला हृदयहीन बन कर देखूँगा। तुम्हारे ही लिए मैंने वैरागी जीवन अपनाया था। तुम्हें संयमी और अजित बनाने के लिए, साधनाओं की सिद्धि में आकुल था और तुम्हारे ही लिए आज उसे भी त्याग दूँगा। मुझे अपने जीवन के बनने-बिगड़ने का किञ्चितमात्र मोह नहीं। मेरे लिए तो बहुत गई, थोड़ी रही; लेकिन तुम जैसी अनुभव-शून्य रमणी को प्रपञ्ची संसार के हाथों छोड़ देने में मुझे पीड़ा होगी। तुम भावुक हो, विदुषी हो, किन्तु संसार के अनुभव में आज भी नव-जात बालिका हो। इसके अतिरिक्त तुमने अपने जीवन में इतना उन्माद भर डाला है कि लक्ष्यहीन पथ पर अग्रसर होने के लिए व्याकुल हो। वसन्तिके! स्मरण रक्खो! मनुष्य का जीवन इतना सस्ता नहीं कि उसे जब जिस भाँव पर चाहे बेंच डालें। संसार में कल्याण की गगन-चुम्बी

अट्टालिका केवल मनुष्य की सत्कृतियों के आधार पर ही खड़ी हुई है। उसके अस्तित्व को रखने के लिए त्याग, संयम एवं आत्म-दमन की महान् आवश्यकता है। तनिक-सी मोहमयी निराशाओं के वज्रपात से परमात्मा को भी मोह लेने वाली मानव की इस कृति को नष्ट कर देना महान् भूल होगी और होगा घोर पाप। एक बार इस पर और सोच लो बेटी कि संसार में प्रवेश करने पर तुम्हारे शारीरिक एवं आत्मिक सुख का हिमालय सा ऊँचा कौन व्रत होगा ?"

'आज मैं अपने आप कुछ नहीं बता सकती। यदि विश्व की करुणा मेरे जीवन की करुणा से बढ़कर होगी और यदि उस करुणा में आकर्षण होगा तो मैं दूसरे की पीड़ा में अवश्य डूब जाऊँगी, किन्तु यदि अपनी करुणा को बाढ़ में ही बह कर जीवन का शाश्वत सुख पा सकी तो संसार को ठुकरा दूँगी। हाँ, आज मैं कोई अपना निश्चय नहीं बता सकती। जब तक अनुभव से संसार की परिभाषा ठीक-ठीक न समझ लूँ तब तक लक्ष्य ही क्या स्थिर करूँ। आज तक जिस स्थिरता पर मैं विश्वास करती थी वह किसी स्मृति के झटके खा कर निर्बल पड़ी हुई है। तुम्हीं बताओ बाबा ! क्या करने कहते हो ?"

"मेरी धारणा तो एक महान् लक्ष्य की ओर है; किन्तु कुछ दिनों के अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् तुम्हारे जीवन का पहला और अन्तिम व्रत यही बनेगा कि दीन-दुखियों की सहायता करो। रोगी की, निर्बल की या आधि व्याधियों में फँसे हुए अपंगुओं और लूलों लँगड़ों की सेवा करो। अन्धों की लाठी बन जाओ या बहरों के कान बन कर रहो। स्त्रियों की उन्नति के लिए सोचो और उनकी असुविधाएँ दूर करने का प्रयास करो। उन्हें पढ़ाओ और शिक्षित बनाओ। यही सेवा-

व्रत महान् है। प्रेम का पवित्र दर्शन इसी पथ पर चल कर प्राप्त होता है। बोलो बेटी ! स्वीकार है ?"

"बाबा ! तुम्हारी जो आज्ञा होगी उस पर वसन्तिका अपना सर्वस्व भेंट चढ़ा देगी। वसन्तिका को केवल अपने सुख से सुख न होगा। वह तुम्हें भी सुखी देखना चाहेगी।"

वैरागी का सन्तप्त अन्तःकरण वसन्तिका का अन्तर्पार देख कर शीतल हो गया; किन्तु वह गंभीरता से कह उठा—'वसन्तिके ! आज सोच लो। तुम्हें विश्व के प्राणों के साथ हिल-मिल कर रहना होगा ! वहाँ अपना स्वार्थ, अपना सुख, अपना दुःख कुछ न सोचना होगा। अपनत्व को पीछे ढकेल कर इस राह का राही बनना होगा। बिना अपनत्व की भावना का बलिदान किये कुछ न हो सकेगा। त्याग—सतत त्याग की महान् आवश्यकता है।"

वसन्तिका कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध हो गई जैसे वह अपनी अन्तरात्मा से समझ रही हो और फिर वह बोली—"बाबा ! तुम मुझ पर अविश्वास क्यों करते हो ? कुछ भी हो, मैं इतनी निर्बल नहीं रहना चाहती कि कर्तव्य से भी हाथ धोना पड़े। मैं प्रत्येक दशा में यही मानती चली आई हूँ कि कर्म ही जीवन है, कर्म ही भगवान है और कर्म का उपासक ही प्रेम का सच्चा पुजारी है।"

"तो चलो बेटी ! शुभ समय में दोनों यात्रा के लिए तत्पर हो जायँ ! तुम भी प्यार से अपनी इस कुटिया को देख लो। इसमें तुम्हारे जीवन का सबसे अधिक उपयोगी बाल्यकाल बीता है। यह तुम्हारे शैशव की एक सुखद-स्मृति है जो कम से कम तुम्हारे जीवन तक याद रहेगी। आओ चलें, प्रेम से प्रत्येक वृक्षों, से फूल की प्रत्येक डालियों से और इस हरित-

भूमि को प्रत्येक तृण से बिदा लें। इन सबमें हमारे तथा तुम्हारे जीवन के अधिक समय की ममता पगी हुई है। आज ये सब पुनः प्रकृति की एकान्त गोद में पड़ कर सोने लगेंगे। उनकी गभीर निद्रा प्रारम्भ हो जायगी।"

वैरागी का मन भर आया। उसने करुण होकर सोचा—आह! आज जी यहाँ इतना रम गया है कि वनस्पतियों का यह अपूर्व भण्डार छोड़ कर जाने को कहीं मन नहीं होता। सारी साधना, सारा वैराग्य, सारी दृढ़ता इस समय कोई काम नहीं कर रही है। जीवन का कितना बड़ा पथ चल कर यहाँ तक पहुँचा था, आज अचानक उसे छोड़ कर पुनः उसी पिछले पथ पर जाना पड़ रहा है। वसन्तिका को लेकर संसार को त्यागने का एक वह दिन और पुनः वसन्तिका को लेकर संसार को अपनाने का आज एक दिन—दोनों वैरागी के हृदय में उथल-पुथल मचाये हुए थे।

वसन्तिका झरने पर से उठ कर जाने लगी। वैरागी भी चुपचाप कुटिया की ओर चला गया। दो दिवसों तक दोनों शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करते रहे। पश्चात् वैरागी ने विन्ध्य के उस भाग को सादर प्रणाम किया और नेत्रों में आँसू भरे वसन्तिका को लेकर उत्तर की ओर चल पड़ा। वसन्तिका जंगली भाग छोड़ कर जब शहरों में प्रवेश करने लगी तो नवीनता ने उसकी आँखों में चकाचौंध पैदा कर दी। और यहाँ के जीवन का प्रत्येक उपयोगी पदार्थ वसन्तिका के उस जीवन से तनिक भिन्न था, जिसे त्याग कर वह यहाँ आई थी। मार्ग में वसन्तिका जब एक स्टेशन पर चढ़ कर रेल द्वारा चलने लगी तो उसने पूछा—"बाबा! कहाँ चलने का विचार है?"

"वसन्तिका, एक शहर सूरत है। मैंने भारत का वर्णन

करते हुए इस शहर की उपयोगिता का पाठ भी तुम्हें पढ़ाया था। याद होगा। इस शहर में मेरे जीवन का यौवन काल बीता है। मुझे वह स्थान अधिक पसन्द है। मेरी एक विशेष इच्छा तुम्हें सूरत लेकर चलने की यह है कि वहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम में भारतीय आयुर्वेद की शिक्षा दिलाऊँगा जो पारिवारिक जीवन में एक रमणी-रत्न के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बहुत सी नवीन खोजों द्वारा निकाली हुई चिकित्सा की विधियाँ तथा उनको उपयोगी सामग्रियाँ सुविधापूर्वक देखी एवं जानी जा सकती हैं। यदि तुमने तनिक सी एकाग्रता से काम लिया तो स्मरण रक्खो, मै अपने ध्येय से दूर न रहूँगा। समाज-सेवा और विशेषकर भारत को समाज-सेवा के लिए चिकित्सा-शास्त्र का अनुभव करना महान् कल्याणकर है। भारत की अधिकांश जनता दरिद्र एवं रोग पीड़ित है और उनका समुदाय गाँवों में है जहाँ वे शहरों के अस्पतालों और दवाखानों से दूर हैं। वहाँ चल कर उनकी सेवा करना महान् कल्याणकर होगा।"

वसन्तिका ने स्वीकृति देकर अपना सिर हिला दिया और इधर-उधर चारों ओर देखने लगी। वैरागी अपनी विचार-धारा में पूनः मग्न हो गया।

× × ×

प्रकाश लखनऊ से चलने के लिए तो चल पड़ा किन्तु किसी विशेष कार्य के न होने से प्रायः जिस शहर में रुक जाता वहाँ के आस-पास के प्रसिद्ध स्थलों और देहातों में होता हुआ यात्रा कर रहा था और कोई न कोई कार्य करते रहने के लिए संघ की ओर से उसने कुछ ऐसे पर्चे छपवा लिये थे, जिन्हें लोगों में वितरण करवा कर समूह के रूप में जनता का

दर्शन करता था और उन्हें शिक्षा की उपयोगिता बतलाते हुए कहता था कि मनुष्य शिक्षा के द्वारा अपना सर्वाङ्गीन उत्कर्ष कर सकता है, अर्थात् देह, मन एवं आत्मा की जो तीन विभिन्न दैहिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ मानव-जीवन के साथ एक सूत्र में बँध कर सफल जीवन की ओर अग्रसर करती हैं, उनका क्रम-विकास करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है। आज भारत देशवासियों को ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता है जहाँ देह का बल, मन की मार्जित बुद्धि एवं आत्मा की निर्मलता एवं सत्यता उन्हें सुख की चोटी पर ले जाकर खड़ी कर दे।

"भाइयो! कहने के लिए तो मैंने भी तुम्हें आकर समझा दिया कि शिक्षित होना चाहिये; किन्तु तुम कहोगे कि जब आज तुम्हारे पास भर पेट खाने के लिए अन्न के दो दाने नहीं हैं तब तुम्हारी सन्तानें कैसे शिक्षित हो सकती हैं, क्योंकि पुस्तकों का एक साधारण-सा परिचय दिलाने एवं विषयों का सूक्ष्म बोध करने के लिए धन व्यय की आवश्यकता है किन्तु मैं कहूँगा कि यद्यपि तुम्हारा ऐसा कहना सर्वांशतः सत्य है, मगर मेरा प्रयोजन यह नहीं कि तुम अपने शरीर की बोटियाँ बेच कर अपनी सन्तानों को वह नपुंसक शिक्षा दिलाओ जो आज देश के नवयुवकों की प्रवृत्तियाँ विलास एवं अकर्मण्यता की ओर ले जाती है और प्रायः जो अन्त में चल कर अपने जीवन में असफल होते हैं।

आप लोगों की सन्तानों को शिक्षा का भार लँगोटिए संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों के हाथ होना चाहिए जो बालकों में स्वदेशानुराग एवं स्वावलम्बन के भाव भरते हुए उन्हें उच्च कोटि का विद्वान् बनावें। यद्यपि ऐसे महान् व्यक्तियों की

आज बड़ी कमी है, फिर भी बहुत ऐसे हैं जो अपने जीवन का महान् व्रत, त्याग, उदारता एवं परोपकार समझते हैं और प्रति क्षण समाज-सेवा के लिए दीवानों की तरह चक्कर काट रहे हैं। आप लोग खोज कीजिए ऐसे व्यक्तियों की जो निःशुल्क शिक्षा दें और दो-दो, चार-चार गाँवों के बीच आकर वर्ष, दो वर्ष, चार वर्ष आप लोगों के सहवास में निरन्तर बितायें। आप अपने बालकों को उनके द्वारा विविध विषयों का ज्ञानार्जन करायें और जब वे योग्य निकलें तो उपरोक्त ऋण का प्रतिदान देने के लिए उन्हें भी दूसरों को शिक्षित बनाने का उत्साह दिला कर सेवा-व्रत में जीवन-उत्सर्ग करने के लिए बाध्य कर दें। यह कार्य एक दिन, दो दिन का नहीं वरन् वर्ष पर्यन्त वर्ष बिताने होंगे तब कहीं इसके सरस-सुख की झलक दिखाई दे सकेगी!

आप अपने आलस्य, मोह-निद्रा, एवं व्यक्तिगत स्वार्थी जीवन की भावनाओं को त्याग कर सामने आयें। आपके सामने रूस देश ही एक ऐसा जीवित प्रमाण है जहाँ केवल पचास या इससे भी कम वर्षों में जनता ने अपने जीवन में विचित्र परिवर्तन कर डाला है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि रूस-देशवासियों को आप लोगों की भाँति विभिन्न ऋतुओं में प्रकृति का विभिन्न परिवर्तन-सुख मिलना दुर्लभ-सा है, फिर भी हिम की उस भीषणता में, जहाँ प्रकृति उन्हें अकर्मण्य बने रहने के लिए बाध्य करती है, वहाँ का इस प्रकार का परिवर्तन, मानव-बल, एकता एवं समानता का विराट चित्र है। आप लोग भी इन्हीं इतिहासों को अपना आदर्श बना कर संसार-क्षेत्र में कूद पड़ें और संसार के उन्नत जीवन के साथ अपनी तुलना करते हुए उन सङ्कीर्णताओं को दूर करें जो जोंक

सी बन कर आप लोगों के सामाजिक, नैतिक आर्थिक जीवन का रक्त चूसे जा रही हैं।

देश के उन शिक्षित बेकारों से मिलें जो माँ-बाप की गाढ़ी कमाई को केवल व्यर्थ के व्यवहारवाद की शिक्षा में दुरुपयोग कर रक्त के घूँट पी रहे हैं और आज भी इस भूल को पश्चात्ताप के आँसू जिनके नेत्रों में छलकते हुए दिखाई दे रहे हैं। जो अपने जीवन से निराश हो चुके हैं और जिन्हें येन केन-प्रकारेण पेट भर लेना भी दुर्लभ है। ऐसे व्यक्तियों की यदि हो सके तो आप मदद करें और उनसे प्रार्थना करें कि जिस जीवन में वे असफल हो चुके हैं उसके प्रति विराग तथा भाषा एवं साहित्य का बोध होना जितना आवश्यक है उसकी प्रारंभिक शिक्षा आप लोग बच्चों को दें।"

देश की ऐसी ही विभिन्न परिस्थितियों का चित्र जनता के सामने रखते हुए प्रकाश विन्ध्य की घाटियों के समीप पहुँच गया। वहीं पास के एक गाँव में डेरा डाल कर एक दिन वह उस घाटी की ओर चला जहाँ आज से दो-ढाई वर्ष पूर्व आकर ठहरा था और जहाँ रह कर अपने जीवन में क्रान्ति मोल ली थी। प्रकाश की आँखों में वहाँ की प्रत्येक झोपड़ियाँ नाचने लगीं। प्रकाश अपनी परिचित कुटिया की ओर चला। आज उसे सुख था कि जिस पावन प्रतिमा को उपासना वह अपने सूने जीवन में करता आया है, उसके दर्शन होंगे।

प्रकाश अभी उस स्थान तक पहुँच भी न पाया था कि अचानक घनघोर वर्षा होने लगी। अब वह बेचारा करता क्या! पास ही में एक जंगली की झोपड़ी थी, वहीं जाकर वह बैठ गया। जंगली ने उसका स्वागत किया और प्रकाश के उस ओर आने का कारण पूछा। प्रकाश ने बताया कि

वह यूँही घूमने निकल आया था। वर्षा होने के कारण उसे रुक जाना पड़ा। जंगलो रात्रि जानकर प्रकाश के आतिथ्य-सत्कार में लग गया और प्रकाश चुपचाप गुनगुनाने लगा। वही कड़ियाँ फिर याद आने लगीं जिन्हें वैरागिनी के दर्शन के पश्चात् अपनाया था। ये सचमुच कविता की निर्जीव कड़ियाँ न थीं वरन् प्रकाश के हृदय की, जीवन की परिभाषा थी—वह धीरे-धीरे गाता जाता था—

आँसू है और रुदन है,
मूर्च्छा है घोर जलन है—
उफ़, मेरे नन्हें से मन में,
कितना उत्पीड़न है !

किन्तु उसका अन्तर्हृदय जैसे वैरागिनी की प्रतिमा को अपने सामने बिठलाकर आराधना कर रहा था और कहता था—मुझे बल दो—मेरे प्रेम की रानी कि मैं तुम्हारी स्मृति बाह्य जगत से हटा कर केवल अपने अन्तर्हृदय में सँभाल कर रख सकूँ।

प्रकाश छटपटाने लगा। नेत्रों से आँसुओं की बाढ़ बह निकली। वह मन ही मन कहता गया—जितनी बार मैं गंभीर बन कर अपनी अवस्था पर विचार करने बैठता हूँ, ज्ञात होता है कि अब भी सब कुछ वैसा ही है। वही छट-पटाहट, वही जलन वही पीड़ा, वही अशान्ति।

किन्तु एक बात वश की हो सकती है—यदि मन पर उसका आकर्षण है तो मन के आकर्षण में शरीर को न जाने दूँगा। और यदि शरीर पर अधिकार रहा आया तो कर्तव्य-च्युत होने के पाप से बच जाऊँगा।

क्रमशः पानी की बूँदें पड़नी बन्द हो गईं। इतने समय में वह जंगली व्यक्ति भी प्रकाश के लिए कुछ दूध और फल लाकर समीप बैठ गया। प्रकाश ने पूछा— 'क्यों भाई तुम्हारा क्या नाम है ?'

"मेरा नाम बुधुवा है।"

"तुम कौन जाति हो ?"

"मैं गोंड़ हूँ।"

"तुम यहाँ कितने वर्षों से रह रहे हो ?"

"बीस वर्षों से।"

"तुम्हारे कौन-कौन हैं ?"

"कोई नहीं, मैं अकेला हूँ।"

"पहले कहाँ रहते थे ?"

"यहाँ से कुछ दूरी पर पिण्डरा रोड एक स्टेशन है।"

"यहाँ आकर क्यों रहने लगे ?"

"इसकी कहानी ही अलग है, बाबू साहब ! पहले मैं स्टेशन में जाकर कुली-गीरी करता था और दिन भर में चार छः आने कमा कर आराम से अपने दिन बिताया करता था। एक दिन की बात है। मुझे कोई काम नहीं मिला। पास में पैसे भी न थे। गाड़ी बिलासपुर की ओर जाने वाली आ रही थी। मैं आशा लगाये स्टेशन पर खड़ा था। एकाएक गाड़ी आकर खड़ी हो गई। एक पचास वर्ष के हट्टे-कट्टे व्यक्ति अपनी गोद में एक लड़की लिये हुए उतरे। उन्हें कुली की आवश्यकता थी। मैं शीघ्र जाकर उनका सारा सामान गाड़ी से उतार कर अपने सिर पर रखते हुए बोला—"कहाँ जाना होगा सरकार ?"

उन्होंने कहा—"सामान उठाओ और चलो मेरे साथ। मैं

अभी नहीं बता सकता, कहाँ जाना होगा।"

चलते-चलते मार्ग में वे बोले—'सुनो जी, मुझे स्वयं नहीं मालूम है कि कहाँ जाना चाहिए, किन्तु मेरा निश्चय किसी पहाड़ी की घाटी में रहने का है।"

मैंने पूछा—"क्यों?"

वे बोले—"देखो. मेरे साथ में जो यह कन्या है इसके माता-पिता का कोई पता नहीं। मुझे यह गंगा-किनारे पड़ी हुई मिली थी; किन्तु जब ईश्वर ने इसकी रखवाली के लिए मुझे ही भेजा तो मैंने उचित समझा कि कहीं एकान्त में जाकर इसका पालन-पोषण करूँ और वहीं ईश्वर का स्मरण करूँ। ससार के बीच तो पचास वर्ष बीत चुके।"

"और इसके पश्चात् खोज करते-करते इसी घाटी के पूर्व हिस्से को उन्होंने पसन्द किया और यहीं झोपड़ी बनाकर रहने लगे। बातों-बातों में मेरा मन भी उनसे ऐसा पक गया कि उनके यह कहने पर कि तुम भी कहाँ जाओगे, यहीं अपना जीवन व्यतीत करो। कुछ गाय-भैंस पाल लो और इन्हीं घाटियों में थोड़ा बहुत जंगली कन्द इत्यादि की खेती कर जीवन व्यतीत करो—मैं भी कुलीगीरी छोड़ यहीं रहने लगा। रुपये-पैसे की भी जब कभी आवश्यकता पड़ जाती थी तो वह दे दिया करते थे।"

प्रकाश बोल उठा—"ज्ञात होता है बड़े धनी रहे होंगे।"

बुद्ध ने कहा—"और तो मैं कुछ नहीं जानता। पहले जब आये थे तब उनके पास पर्याप्त रूप में माल-असबाब था, मगर घाटी में आते ही उन्होंने अपने जीवन का परिवर्तन कर डाला। वैरागियों की भाँति अपनी रहन-सहन रखने लगे। धीरे-धीरे जब लड़की बढ़कर ५ या ६ वर्ष के उम्र

की हो गई थी तब से सदैव प्रभात के प्रहर भर प्रथम उठकर ईश्वर उपासना में ध्यानस्थ हो जाते थे और पश्चात् लड़की के साथ खेलते रहते और पढ़ाते भी थे। मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है जैसे भारी पण्डित रहे हों।"

प्रकाश ने कहा—"कल मैं भी उनका दर्शन करने चलूँगा।"

बुधुवा ज़ोर से हँस पड़ा और बोला—"बाबू साहब! वैरागी बाबा अब घाटी पर नहीं हैं। एक वर्ष हो चुका वह लड़की को लेकर सूरत चले गये। मुझे भी साथ चलने के लिए कहते थे; पर मैंने नाही कर दी। आप ही सोच लीजिए बाबू साहब, मुझे पन्द्रह बरस से अधिक यहाँ रहते हो गया, अब मैं इस स्थान को छोड़ कर कैसे जा सकता था। मेरी ममता तो यहीं अटकी है।"

प्रकाश की सारी आशा पर मानो वज्रपात हो गया हो। बुधुवा की बातें अब उसे नहीं भाती थीं, जो कुछ वह कह रहा था उसे भी प्रकाश सुनने के लिए उद्यत न था। कितनी आशा लेकर वह लखनऊ से विन्ध्य की घाटियों में आया था और अचानक कितनी बड़ी निराशा उसके सम्मुख आकर हँसने लगी। प्रकाश ने धीरे से पूछा—"सूरत क्या करने गये हैं?"

बुधुवा बोला—"वैरागी जी कह रहे थे कि अभी लड़की को पढ़ायेंगे।"

प्रकाश बोला—"अच्छा बुद्ध भाई! मेरे सोने का समय हो चुका। अब मैं लेटूँगा और जहाँ तक विचार है शायद दो-एक दिन पश्चात् ही पुनः वापस चला जाऊँ। हाँ, यदि तुम भी मेरे साथ चलना चाहो तो मैं ले चलूँगा।"

बुधुवा ने कहा—"बाबू जी! अभी मुझ ग़रीब के घर दो-चार दिन रहें। मुझसे जो सेवा-शुश्रूषा हो सकेगी करूँगा और

अपने को धन्य समझूँगा। मुझ गरीबों के पास कभी काहे को कोई बड़ा आदमी आने लगा। हम लोगों से जैसे बड़े आदमी डरते हों या घृणा करते हों।"

प्रकाश बोला—"नहीं बुद्धू भाई! ऐसा मत कहो। अब वह समय नहीं रहा जब लोग जैसा तुम कहते हो किया करते थे। अब तो हमारे देश के बड़े-बड़े आदमी तुम लोगों से मिल कर, तुम लोगों की व्याधाओं को देख कर बड़े ही दुखित होते हैं और कष्ट दूर करने की कोशिश करते हैं।"

बुद्धू हँस पड़ा और बोला—"अच्छा बाबू जी, आप सो रहें। थके-माँदे हैं, कल आपकी बातें सुनूँगा।"

× × ×

प्रकाश विन्ध्य की घाटी से बुधुवा को साथ लिये लौट तो आया पर विरागिनी को न देख सकने पर उसे जितनी व्यथा हुई उस निराशा ने पुनः प्रकाश के जीवन में परिवर्तन-सा ला दिया। कर्ममय जीवन-संग्राम में ममतामयी व्यक्तिगत लालसाओं का जो संघर्ष आज कई वर्ष से चल रहा था उस जीवन पर एक बार दृष्टिपात करने से प्रकाश को बोध हुआ कि वह व्यष्टि-सुख-लालसा में, समष्टि की भावना का गला घोंट रहा है। उसे अपना विश्लेषण करते देर न लगी।

प्रकाश को पश्चात्ताप-ज्वाला भभक उठी। वह अपनी आग में जलने लगा। अन्तरात्मा की पुकार ने चिल्ला कर बतलाया कि प्राणी! वासना की ज्वाला में जितने दिन तू झुलसता रहा, उसकी याद भूल जा। बीती पर क्या रोना! रोकर ही क्या मिलेगा! जो बीत चुकी सो बीत चुकी।

यह समझ ले कि व्यष्टि एवं समष्टिमयी दोनों ही वासनाएँ तेरी हैं। किसी एक का बलिदान करके तू दूसरा ओर बढ़

सकता है। एक के पश्चात् दूसरी है; किन्तु व्यष्टि की वासना का निरन्तर चिन्तन करते रहने से समष्टि की ओर बढ़ने का जो तेरा महान् व्रत है वह अपूर्ण रह जायगा। इसलिए अपनेपन की भावना भूल। दूसरेपन में रंग कर तू अधिक सुहावना दिखलाई देगा। याद तू रोता है तो रोया कर। पर उन उत्तप्त बूँदों से अपनेपन के जमे हुए मैल को धो डाल।

ज्योतिर्मय आत्मा से प्रार्थना कर कि वह जीवन बनकर भभक उठे और अपने प्रकाश से तेरे जीवन के प्रत्येक क्षण आलोकित कर दे। उस प्रकाश के सहारे विश्व के प्रत्येक हृदय को टटोल कर देख, जहाँ तेरी मनचाही माधुरी न दिखाई पड़ती हो वहीं अपने सदनुष्ठान द्वारा प्रियतमा का स्वरूप स्थापित कर दे। विश्व का प्रत्येक हृदय तेरा पूजा-मन्दिर बन जायगा और इस तरह प्रपूज्य होने पर तेरी प्रियतमा तुझसे पल भर विलग न रह सकेगी।

प्रकाश एकाग्र मन से युवक-संघ के मंत्री पद का भार ग्रहण कर पुनः अपने कर्त्तव्य-कर्म पर जा डटा। दिनेश और बनमाली उसके पूर्ण सहायक थे। ग्राम-ग्राम में जाकर पाठशालायें खुलवाना दोनों का दैनिक व्यापार था। प्रकाश नगर के नवयुवकों को प्रोत्साहित कर देहातों की ओर जाने की प्रेरणा करता था। प्रकाश में जादू था। नगरों के नवयुवक मंत्र-मुग्ध से प्रकाश के इशारों पर नाच रहे थे। प्रकाश उन लोगों को ग्रामों की पाठशाला में शिक्षक नियुक्त करता था। नवयुवकों का पद तो केवल शिक्षक मात्र का था, पर वास्तव में वे स्वयं-सेवक थे। यद्यपि अब तक जितने स्कूल खोले गये थे उनमें बालकों को केवल प्राथमिक शिक्षा ही दी जाती थी, पर उस शिक्षा-पद्धति की नवीन योजना लंगोटियों साधुओं एवं आर्य

पुरुषों द्वारा कराई गई थी जिसका पालन करना शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों के लिए आवश्यक था। पाठशालाओं के नियम निम्न प्रकार के थे।

१—प्रत्येक विद्यार्थी का आश्रम में रहना अनिवार्य था यद्यपि वह माता-पिता के कार्यों में योग देने के लिए घर जा सकते थे।

२—ब्रह्मचर्य-पालन विद्यार्थी का परम शिक्षा थी क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार कि सर्वज्ञान मनुष्य से ही उत्पन्न है, आत्म-निरीक्षण द्वारा बौद्धिक विकास करने में ब्रह्मचर्यव्रत की सहायता परमावश्यक थी।

३—प्रत्येक बालक को शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी।

४—सूर्योदय के पूर्व ही प्रत्येक बालक को शौच स्नानादि कार्यों से निवृत्त हो जाना परमावश्यक था। स्वच्छता एवं शुद्धि पर विशेष ध्यान रखना पड़ता था।

५—पाठशाला में आकर उठने-बैठने एवं पाठ्य-विषय की ओर एकाग्र होने का नियम प्रत्येक विद्यार्थी का एक ही क्रम से पालन करना पड़ता था।

६—विद्यार्थी का भोजन आयुर्वेदज्ञों द्वारा निश्चित था। उसके अलावा विद्यार्थी अन्य खाद्य-सामग्री नहीं ग्रहण कर सकते थे।

७—आसन-व्यायाम दोनों शारीरिक एवं मानसिक स्फूर्ति के लिए आवश्यक था।

८—खेतों में जाकर काम करना, हल जोतना. मिट्टी को परख करना, खाद उपयोग करना, गो एवं पशु-पालन में निपुण होना भी प्रत्येक विद्यार्थी को सिखलाया जाता था।

इसके अलावा शिक्षकों पर पूर्ण ज़िम्मेदारी थी कि इन नियमों का पालन विद्यार्थी द्वारा, आत्मिक, मानसिक, एवं शारीरिक शक्तियों द्वारा अनुमान करके ही जितना संभव हो कराया जाय।

यद्यपि प्रकाश ने केवल प्रारम्भिक पाठशालायें ही खोली थीं, पर बालकों में मौलिक ज्ञान बढ़ाने के लिए प्रत्येक पाठशाला में पर्याप्त अनुभवी एवं मनोवैज्ञानिक शिक्षक नियुक्त किये थे। एक ही छोटी सी पाठशाला में विभिन्न विषयों के जानकार ४ से ६ शिक्षक तक होते थे। प्रकाश का यह विश्वास था कि प्रारम्भिक जीवन में ही बालकों के सारे जीवन का संस्कार बन जाता है।

नव-उत्साह द्वारा प्रकाश का शिक्षा विषयक एक ओर यह कार्य चल रहा था, और दूसरी ओर ग्रामीण जनता को कभी एकता की, कभी संगठन की, कभी उद्योग-धन्धों की तो कभी खेती-बाड़ी की, कभी देश-चर्चा की तो कभी विश्व-हलचल की गाथा सुनाई जा रही थी।

प्रकाश, दिनेश, बनमाली अपने ग्रामीण संसार के ब्रह्मा, विष्णु, महेश थे। जनता में इन तीनों की प्रचुर धाक थी। इनके युक्तिपूर्ण सदाग्रह से विमुख रहने की शक्ति किसी भी ग्रामीण में न थी। सभा इनके बताये मार्ग का अनुसरण करने में दत्त-चित्त थे।

आश्रम एवं शालाओं का व्यय जनता द्वारा दिये गये धन पर ही चलता था। कभी-कभी तो प्रकाश को नगरों के धनी व्यक्तियों का आश्रय लेना पड़ता था। प्रायः ग्राम-पाठशालाओं की सारी आवश्यकता ग्रामीणों द्वारा ही पूर्ति कर दी जाती

थी। जब आर्थिक संकट का प्रश्न उपस्थित होता था तभी नगरों की ओर हाथ फैलाना पड़ता था।

एक दिन प्रकाश, दिनेश, बनमाली तीनों मित्र आपस में बैठे बातें कर रहे थे। प्रकाश ने कहा—'भाई! तुम लोगों के परिश्रम से ईश्वर प्रसन्न है। जिस पथ पर तुम लोग बढ़े हो, निस्सन्देह वह सराहनीय है। प्रारम्भिक स्कूलों का निर्माण व कार्यक्रम सभी इच्छित विचारों द्वारा हुआ है. किन्तु आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि इन पाठशालाओं का सम्बन्ध "प्रान्तीय-शिक्षा केन्द्र" से बना रहे और इसका उचित निरीक्षण भी वहीं से होता रहे। विशेष सेवाएँ जो हम लोगों से हो सकेंगी करते रहेंगे।"

बनमाली ने कहा—"मैं तुम्हारे विचारों से सहमत हूँ और यदि ईश्वर ने चाहा तो अगले वर्ष हम लोग अन्य कार्यों में भी अपना हाथ बटायेंगे।"

"अन्य कार्यों से तुम्हारा तात्पर्य क्या है?"—दिनेश ने पूछा।

"औद्योगिक व्यवस्था।"

"किन्तु इसमें पूँजी की बड़ी आवश्यकता है।"

"अभी तक जितने कार्य हुए हैं क्या उनमें पूँजी की आवश्यकता न थी? अवश्य थी, पर जैसे उसमें सफलता मिली है उसी तरह विजय इस कार्य में भी रहेगी। यों तो जो कार्य जितना ही महान् उद्देश्य पूर्ति के हेतु प्रारम्भ किया जायगा, उसकी बाधाएँ भी उतनी ही बड़ी रहेंगी।"

प्रकाश—"चरखा प्रचार" इसका श्रीगणेश है। अभी तक हम लोग चरखे का सदुपयोग बहुत ही कम कर सके हैं,

इसीलिए ग्रामीणों का ध्यान भी इधर नहीं आकर्षित हो सका। यदि नियमित रूप से इस कार्य का आरम्भ हुआ तो ग्रामीण जनता इससे पूरा-पूरा लाभ उठा सकेगी।"

बनमाली बोल उठा—"बेशक प्रकाश मुझे तो इसकी उपयोगिता में तनिक भी सन्देह नहीं है। सन्देह हो भी कैसे। इसमें हम लोगों की बुद्धि की उपज नहीं है। यह तो महात्मा का महान् युगांतर प्रयोग है और जो स्वयं सिद्ध है। जब तक कार्य रूप में इस क्रिया को हम नहीं करते तभी तक संदेह व बाधाएँ हैं।"

अन्ततः तीनों ने निश्चय कर डाला कि कार्य तो प्रारम्भ हो ही जाय साथ ही यदि सङ्घ के कोष में कुछ रुपया हो तो कुछ विद्यार्थी सावरमती आश्रम में जाकर इस विषय की विशेष जानकारी प्राप्त कर लें।

प्रकाश, बनमाली एवं दिनेश ने सघ में प्रस्ताव रक्खा जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। संघ ने अपनी ओर से ४ विद्यार्थियों को आश्रम भेज दिया और इधर इन लोगों ने अपने प्रचार-कार्य में बढ़ना प्रारम्भ किया।

× × ×

समय व्यतीत होते देर नहीं लगती। वैरागी विन्ध्य की घाटियों को छोड़ सूरत चला आया। जैसा उसका विचार था ताप्ती के किनारे उसने एक आश्रम बनाया। वहीं वह वसन्तिका को साथ लेकर रहता था। वसन्तिका को आते ही आयुर्वेद को अपनाना पड़ा। वह ताप्ती ब्रह्मचर्याश्रम में जाकर अध्ययन करती थी। आयुर्वेद के अलावा उसे हिन्दी, अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल इत्यादि की भी शिक्षा दी जाती थी। वसन्तिका कुशाग्रबुद्धि की किशोरी थी। उसने क्रम-

क्रम से पाँच वर्ष के अन्तर्गत वह सफलता प्राप्त की जिसकी आशा वैरागी को नहीं थी। वसन्तिका की जो मनःस्थिति वैरागी ने विन्ध्य की घाटी पर देखी थी उससे वह पूर्ण निराश ही था; किन्तु यहाँ आकर वसन्तिका ने जिस कठिन संयम के द्वारा अपने आपको आगे बढ़ाया उसे देखते वैरागी ने समझ लिया कि वसन्तिका उसके जीवन की आशा पूर्ण करेगी। इतना ही नहीं, वैरागी को यह भी निश्चय हो गया कि अठारह वर्ष की पूर्ण युवती वसन्तिका अपने तेरहवें वर्ष के जीवन को पूर्णतया भूल गई है, फिर भी वैरागी के सामने अब दूसरी समस्या थी। वह यह कि वसन्तिका अविवाहित थी।

जून के दिन थे। संध्या हो चली थी। आग बरसानेवाली सूर्य की उत्तप्त किरणें प्रभाहीन हो रही थीं। वसन्तिका ब्रह्मचर्याश्रम से लौटी हुई आ रही थी। आश्रम में पहुँचते ही उसने पुकारा—"बाबा!"

"क्या है वसन्तिका!" वैरागी कुटिया से निकलते हुए बोला।

"यह देखो!"—और उसने अखबार का एक पेज वैरागी के हाथों में दे दिया।

वैरागी ने देखा कि वसन्तिका आयुर्वेद आचार्य परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुई है। वैरागी वसन्तिका को देख कर फूला न समाया। वह कहने लगा—"वसन्तिका! आज से तुम्हारा यह जीवन भी समाप्त हुआ। अब तुम्हें भविष्य के लिए सोचना चाहिए।"

'मैं क्या सोचूँ?"

"यही कि तुम्हें क्या करना चाहिए।"

"यह तुम सोचो बाबा ! मैं तुम्हारी इच्छानुकूल चलने में ही अपना भावी जीवन बिताना चाहती हूँ।"

"ठीक है वसन्तिका ! किन्तु अब तुम्हें भी सोचना पड़ेगा। मैं वृद्ध हो चला। मेरे जीवन के दिन कुछेक श्वास लेने के पश्चात् अन्त होते रहेंगे। अब तुम्हें अपने आप अपना सहारा बनना होगा। मेरे जीवन के पश्चात् तुम अकेली हो।"

"बाबा ! तुम ऐसी निष्ठुर बातें क्यों किया करते हो ? सदैव तुम इस गंभीर ज्ञान की चादर से मेरा वर्तमान ढँकने का प्रयास किया करते हो। जब वह दिन आयेगा, देखा जायगा। जब तक तुम्हारी गोद है, तब तक मुझे खेलना है।"

'यह तो जी बहला लेने की बातें हैं बेटी ! तुम लाख कहो पर प्रति पल का कठोर परिवर्तन देखते-देखते जीवन के लगभग ७० वर्ष व्यतीत हो चुके। मैं समझता हूँ कि अब मेरी गोद तुम्हारे प्रतिक्षण खेलने के लिए नहीं, चाहे पल भर के विश्राम के लिए भले ही हो।"

वसन्तिका मौन हो गई। वैरागी कहने लगा 'तुम्हारा शिक्षण समाप्त हो चुका। इसके आगे तुम्हें पढ़ाने का मेरा विशेष विचार नहीं। मेरा तात्पर्य यह है कि अब तुम संसार-क्षेत्र में पदार्पण करो। एक औषधालय खोलो और मानव को—दीन-दुःखी आधि-व्याधि ग्रस्त दुर्बल मानव की-सेवा में लग जाओ। देश-सेवा के साथ-साथ इसमें तुम्हारा आत्मिक कल्याण है। आत्मिक-कल्याण देवत्व की प्राप्ति है।"

"मैं तैयार हूँ किन्तु इस कार्य के प्रारम्भ करने में अभी देर है। प्रश्न यह है कि यह कार्य नगरों से सम्बन्ध रक्खेगा या गाँवों से। मैंने इन वर्षों में नगर के सन्निकट रहते हुए

यह अनुभव किया है कि अधिकांश ग्रामीण जनता ही दुःखी है ; नगरों में रहने वाले तो फिर भी चाहे गरीब ही क्यों न हों—सभी सुविधाएँ प्राप्त कर लेते हैं।"

"वसन्तिका ! मेरा भी यही विचार है।"

"तो बाबा सोचना होगा कि कहाँ, किस प्रान्त के किस गाँव में रह कर कार्य प्रारम्भ किया जाय। साथ ही थोड़े बहुत धन की आवश्यकता है।"

"धन के लिए तो कोई चिन्ता नहीं। मैंने केवल इसी कार्य के लिए कुछ रुपये रख छोड़े हैं तुम्हें जब जितनी आवश्यकता पड़ेगी मैं दूँगा। रह गया स्थान का, इसके लिए तुम स्वतन्त्र हो। लगभग भारत के प्रत्येक भाग में तुम भ्रमण भी कर चुकी हो। मुझे याद है जब दो साल प्रथम गर्मियों की छुट्टी में हम लोग मध्य प्रांत में भ्रमण कर रहे थे, तुमने कहा था कि इन जंगली प्रदेशों में मानव का एक बहुत बड़ा समुदाय आज भी उसी रूप में जीवन व्यतीत कर रहा है जिसकी झलक भारत के प्रारम्भिक इतिहास में पाई जाती है। उन अर्द्धनग्न एवं असभ्य व्यक्तियों की सेवा साक्षात् परमेश्वर की सेवा है।"

"तब तो ठीक है बाबा ! मेरी इच्छा एक बार पुनः विन्ध्य की घाटियों में चलने की है। वहाँ चलकर दो कार्य सिद्ध हो सकते हैं। प्रथम तो स्थान की खोज और साथ ही उस पवित्र भूमि का दर्शन जिसमें मेरा बाल्य-काल बीता है। द्वितीय वनस्पतियों का अध्ययन व संग्रह जो आर्थिक दृष्टिकोण से भी उचित है।"

नैरागी वसन्तिका के प्रस्ताव से सहमत हो गया।

वसन्तिका अपने भावी जीवन की मधुर कल्पना में निमग्न हो गई। वह दिन प्रति दिन यात्रा के उपयुक्त सामान इकट्ठा करने लगी। धीरे-धीरे सारी तैयारियाँ हो गईं। एक दिन वैरागी और वसन्तिका तापी को प्रणाम करते हुए पुनः उसी ओर चल पड़े जिधर से एक दिन आये थे।

× × ×

जून के दिन थे। ग्रीष्म के सूर्य की प्रखर किरणें विश्व को झुलसाते-झुलसाते स्वयं झुलस चुकी थीं। आतप बेला का अन्त था। उपत्यका के चारों ओर शान्ति विश्राम करने के लिए आकुल दौड़ी आ रही थी। पशु-पक्षी अपने-अपने नीड़ों में थक कर जा बैठे थे। हहर-हहर शोर मचाने वाला वायु मन्दगति से चलकर श्रमिकों को नवजीवन प्रदान कर रहा था। क्षितिज के एक ओर से चाँद झाँकने लगा था। कड़ी धूप में निरन्तर चार घण्टे वनस्पतियों का संग्रह करते-करते थक कर वसन्तिका अपनी पुरानी घाटी में आ बैठी थी। प्रस्वेद बिन्दु उसके ललाट पर चमक रहे थे। वह कहने के लिए तो शून्य बन कर बैठी थी, किन्तु वास्तव में विगत स्मृतियाँ एक एक करके उसे उन अतीत दिनों की याद दिला रही थीं जब वह प्रति-दिन आकर इसी घाटी में बैठा करती थी। वह चकाचौंध सी इधर-उधर आँख फाड़ कर देख रही थी। सब कुछ वैसा ही सुन्दर दिखलाई पड़ता था। वही झरना था, वही हरा-भरी उपत्यका। वही बनावट, वही शृङ्गार। प्रकृति के अक्षय कोष में उसे कहीं कमी नहीं दिखलाई पड़ती थी। सब कुछ सुन्दर था। सब में नवीन आकर्षण था। केवल सूनापन था तो एक बात का। मानव की कला वहाँ पर नहीं टिक सकी थी। वसन्तिका की बनाई हुई

क्यारियाँ नष्ट हो चुकी थीं। वसन्तिका के लगाये पेड़-पौधे या तो बड़े हो गये थे या कहीं पर उनका अस्तित्व ही न था। फल-फूल वहीं पैदा होकर वहीं गिर पड़े थे। वहीं सड़ रहे थे। वहीं सूख रहे थे। किसी ने उन्हें उस जगह से हटाया नहीं था। यह दूसरी बात है कि पुनर्जीवन देने के लिए वायु ने बीज को कहीं से लाकर, कहीं ला पटका हो।

वसन्तिका क्षण भर बैठने के पश्चात् पुनः उठ कर इधर-उधर टहलने लगी, ज्ञात होता था जैसे वह कोई खोई वस्तु प्राप्त करने का प्रयास कर रही हो। आगे बढ़ी। झरने के तट पर पहुँची। झुक कर हाथ-पाँव धोने लगी। सामने शिला-खण्ड पड़ा हुआ था। उसकी दृष्टि उस शिला-खण्ड पर जा पड़ी। वसन्तिका का स्वाभाविक मोह उमड़ पड़ा। वह उस शिला पर आकर बैठा करती थी। आज वह उसमें बैठेगी। अपनी कहेगी, उसकी सुनेगी। उसे बैठना भी चाहिए; क्योंकि यही तो मिलन है फिर चाहे चेतन जगत के साथ हो या जड़ के। जड़-चेतन दोनों ही तो विश्वात्मा की विभूति हैं। दोनों में कुछ साम्य है, कुछ सम्बन्ध भी।

पाँच वर्ष पश्चात् लालायित मन लिये जब वह शिला-खण्ड के पास पहुँची, उसने देखा—शिला-खण्ड पर एक विशेष आकृति के खरोंच पड़ गये हैं। उसका हृदय फूट पड़ा है। वह जड़ पदार्थ वसन्तिका के वियोग में मर्माहत-सा पड़ा है। उसके मुँह नहीं है कि वह अपनी प्रेम-पीड़ा की कहानी कह सुनाये, पर अन्ततः वह भी तो है प्रेमी, जड़ है तो क्या हुआ, पत्थर दिल का है तो क्या। वियोग की आँच से वह भी मोम की तरह पिघल पड़ा है। जिसके नेत्र हों वह उसे देखे। निर्मम प्रेमिका की कटु आलोचना उलाहना उसे भी

सुनाने हैं। उसके उन्नत वक्षस्थल पर एक कठोर दाग़ सा खिंच गया है।

आँसू है और रुदन है, मूर्च्छा है घोर जलन है!
उफ़! मेरे नन्हे से मन में, कितना उत्पीड़न है!

वसन्तिका वहीं बैठ गई। रोम-रोम में कड़ी के प्रत्येक शब्द भनक उठे। जैसे वह समाधि से उठी हो। फिर निद्रा भंग हो गई है। जागृत में ही वास्तविक जीवन है। वसन्तिका सोचने लगी—तो क्या सचमुच वह अभी तक सोती है या सोने का स्वांग रच कर अपने वास्तविक जीवन को भुलावे में डाल रक्खा था? पाँच वर्ष क्या थे? उन दिनों में एक दिन भी तो उसने इन कड़ियों का आवर्तन नहीं किया? क्या सचमुच?

वसन्तिका के लिए यह कठिन था कि अपने आपको धोखे में डाल दे। यह दूसरी बात है कि वह बाबा को अपने कठोर संयम द्वारा विश्वास दिला दे कि पाँच वर्ष तक उसकी एकाग्रता केवल अध्ययन में रही, किन्तु यह प्रथम बात है कि उसने प्रत्येक परिस्थिति में लुका-छिपा कर परदेशी की स्मृति को अपने साथ ही रक्खा। उसे न क्षण भर के लिए विलग रख सकी न पग भर दूर। यही तो परदेशी का जालिम पन था कि वह आने के लिए अपरिचित रूप में उसके सामने केवल दो ही चार बार आया पर सदा के लिए आया।

अभी उस दिन जब परीक्षाफल बाबा को दिखला रही थी बाबा ने कहा था मेरे जीवन के पश्चात् तुम अकेली हो। 'मैं अकेली हूँ' उफ कितना कठोर सत्य है।

बाबा थोड़े दिनों के साथी हैं। कहते थे मेरा सत्तरवां वर्ष समाप्त हो चुका। वह वृद्ध हैं। अब मेरा उनका अधिक दिनों

तक साथ नहीं चल सकता। वह कहते थे कि उनकी गोद पल भर के विश्राम के लिए भले ही हो, पर प्रति पल खेलने के लिए नहीं।

तब मैं अकेली ही रहूँगी। अपने आप बातें करूँगी, हँसूँगी रोऊँगी, पर नहीं, अकेली क्यों। बाबा साथ छोड़ने से पहले साथी दिये जा रहे हैं। दीन, दुखिया, रोग, औषधि सब मेरे साथी होंगे। मुझे दिन-रात इन्हीं से बातें करनी होंगी। दीन-दुखियों की भला क्या कमी। रोग तो जैसे चारों ओर बिखरे हों। औषधि प्राप्त करने के लिए परिश्रम और उपार्जन। बस सब कुछ ठीक। देश-सेवा करूँगी। आत्मिक कल्याण होगा। देवत्व की प्राप्ति होगी। किन्तु मेरा मनुष्यत्व! हाय रे मनुष्यत्व तू रोया करना—

आँसू है और रुदन है, मूच्छा घोर जलन है!
उफ़, मेरे नन्हे से मन मे, कितना उत्पीड़न है!

वसन्तिका के जीवन में उग्र यौवन ने पदार्पण किया। वसन्तिका इस आकस्मिक बोझ से दबने लगी। उसने अनुभव किया कि वह तूफानी जीवन बिता रही है। उसमें कुछ अजीब मस्ती है, भारीपन है, मादकता है। दिन प्रति दिन एक नई कल्पना, मधुर उमङ्ग, सुनहली आशा उसके हृदय के शान्त वातावरण को झकझोर रही है। उसके अनुराग रंजित नेत्र अपनी लालिमा में किसी को सराबोर कर देना चाहते हैं। यौवन भी शारीरिक क्रांति है। वसन्तिका इसे भली भाँति समझती है। फिर भी भावनाओं का पशुवर्ती न रह कर, उच्छृङ्खल सा रहना वसन्तिका को खटकता है। कभी-कभी तो वह बेढब उलझी सी रहती है। उसे इसीलिए यौवन पर क्रोध आता है कि जहाँ यौवन इतना उग्र, वीर और साहसी

है, वहाँ वह निर्बल भी है। पहले वह वसन्तिका के जीवन में कितना छिप कर आया था। वसन्तिका जान भी न पाई। उसे अपने में परिवर्तन होता हुआ अवश्य ज्ञात हुआ। किन्तु शिशु-सुकुमार-यौवन को अनाहत न कर सकी।

सचमुच शिशुत्व चाहे कैसा भी हो, वास्तव में भोलेपन के साथ है, इसलिए सहज आकर्षक एवं प्यारा है; पर यौवन कैसा भी हो, वह सदैव उग्र है। सबसे प्रथम वह युद्ध ही करना चाहता है। परास्त होकर तो वह अधोनस्थ रह सकता है, किन्तु परास्त होना यौवन की मृत्यु है। जीत होने पर तो संयम की दृढ़ दीवाल को लांघ कर निरंकुश बन कर रहना चाहता है, यही उसका अनौचित्य है।

वसन्तिका जहाँ यौवन का स्वागत करती थी वहीं वह संयम को भी उसके सामने खड़ा रखना चाहती थी, मानो वह सूचना देती थी कि संयम उसके तपस्वी जीवन की कमाई है। वह यह नहीं चाहती कि नवागन्तुक मेहमान डाकू बन कर उसे लूट ले। लूट-खसोट तो बर्बरता है—दानवी वृत्ति है।

जहाँ वसन्तिका के अन्तर्हृदय में द्वन्द मचा था, वहाँ वह सब कुछ देखने, समझने एवं प्रभावित होने पर भी अपने को कर्तव्य-विमुख के पाप से बचाये रहती थी। वनस्पतियों का नित्य अनुभव एवं संग्रह, औषधियों का नव-निर्माण एवं रोगों का निदान के साथ स्पष्टीकरण उसका नित्य का जीवन था। वह अपनी घाटी में पुनः छः मास से रह रही थी। वसन्तिका ने अपनी मदद के लिए एक ग्रामीण स्त्री को अपने

साथ रख लिया था। वह उसे भी थोड़ा-बहुत पढ़ाया करती थी।

उसका नाम धिरजिया था, पर वसन्तिका उसे अधिराजा कह कर पुकारा करती थी। अधिराजा वसन्तिका की केवल नौकरानी भर ही नहीं, वरन् सखी भी थी। पहले जब वसन्तिका उस घाटी में रहती थी तब उसका धिरजिया से पर्याप्त परिचय था।

पश्चात् अधिराजा का विवाह हो गया। वह अपने ससुराल चली गई। वसन्तिका भी अकेली रहती थी। थोड़े दिनों पश्चात् वह भी पढ़ने चली गई। तब से करीब छः वर्ष पश्चात् दोनों का पुनः सम्मेलन हुआ। अधिराजा विधवा हो चुकी थी। ससुराल वाले उसे न रखते थे। इसलिए वह मयके आई थी। उसका विचार था कि वह जीवन व्यतीत करने के लिए किसी के घर बैठ जायगी; पर वसन्तिका ने उसे अपनी परिचर्या में रख लिया। अधिराजा भी वसन्तिका को पाकर प्रसन्न हो गई है।

वसन्तिका अभी-अभी वनस्पतियों का गट्ठा रखकर पास ही पड़ी चारपाई पर लेट गई। अधिराजा ने पास आकर पूछा—'क्यों बहिन! थक गई हो क्या?"

"नहीं तो!"—वसन्तिका ने उत्तर दिया।

"आज अनमनी-सी क्यों दीख पड़ती हो?"

"बाबा की याद आ रही है। एक सप्ताह हुआ, वह लौट कर नहीं आये।"

"कहाँ गये हैं?"

"लखनपुर!"

"क्यों?"

"वही दवाखाना की इमारत देखने !"

"क्या इमारत बन गई ?"

"बन हो चुकी होगी, अभी उस रोज तुम्हारे सामने ही तो वह आदमी आया था।"

"वह आदमी कौन था ?"

"यह तो मैं नहीं जानती, शायद वह ठेकेदार का नौकर रहा होगा । वह बाबा को इमारत दिखाने के लिए बुलाने आया था ।'

"तो सात दिन इमारत देखने में लगता है ?"

"यही तो मैं भी सोचती हूँ, पर एक बात है। शायद बाबा ने अपनी कोई नई तजबीज़ बनाई हो और स्वयं रुक कर देखने में लग गये हों।"

"यह काम तो ठेकेदार स्वयं कर सकता है !"

"कर तो सकता है, किन्तु बाबा को कैसे कह दे कि वह चले जायँ या कोई सलाह न दें। तुम शायद नहीं जानतीं। ठीकेदार बाबा का भक्त है। उसने अपने पैसे लगा कर केवल दीन-दुखियों के लिए दवाखाना की इमारत बनवा दी है। संभव है उसी ने रोक लिया हो। हाँ, एक बात है....."

"वह क्या ?"

"ऐसे समय मुझे बुधुवा की याद आती है। न जाने हम लोगों के जाने के बाद वह कहाँ चला गया। वह होता तो शीघ्र ही समाचार लेकर आ जाता।"

"बुधुवा तो तुम लोगों के जाने के बाद साल हो भर में किसी आदमी के साथ यहाँ से चला गया था। मैं तो यहाँ पर थी नहीं, पर घाटी के आस-पास रहने वाले लोग यह कहते थे कि तुम लोगों के जाने के बाद वह आया, अप्रसन्न रहता था।

एक दिन कोई परदेशी यहाँ पर आया और वह दो-चार रोज़ रहने के बाद बुधुवा को अपने साथ लेता गया। तब से उसका कोई समाचार नहीं मिला, किन्तु यदि बाबा की खोज-ख़बर लेना हो तो कोई भी आदमी जा सकता है। घाटी के सभी लोग बाबा को व तुम्हारी आज्ञा मानते हैं।"

"अब आज तो रहने दो, कल देखा जायगा।'

अधिराजा उस जगह से दवाइयों को निश्चित स्थान पर रखने चली गई। वसन्तिका एक नया प्रश्न लेकर उलझ पड़ी। वह परदेशी कौन था? हम लोगों के जाने के बाद यहाँ क्यों आया था? बुधुवा से उसका कैसा परिचय था? बुधुवा को वह अपने साथ क्यों लेता गया?

कहीं वह परदेशी वही परिचित पुराना युवक तो न था? आह, पोतम परदेशी! तुम कौन थे? कैसी माया लेकर इस एकान्त में आये थे? तुम्हारे गायन में रोदनमय विह्वल करुणा की सृष्टि क्यों हुई थी? यौवन हँसता है, फिर हँसी खुशी के दिनों में पाप की तरह तुम क्यों रोने लगे थे? रोना ही था तो कहीं अन्यत्र जाकर रोते। जो सदैव सुख की किलकारियों से बेसुध रहती थी, उसके होठों की हँसी छीनने वाले थे तुम कौन? निष्ठुर! इस एकान्त में तुम्हारे उस ज्ञान की आवश्यकता ही किसे थी?

इस पर संसार भी विश्वास न करेगा कि एक अपरिचित के प्रति दो चार क्षणों में कोई स्थायी ममता हो सकती है? किन्तु मुझे तो इस असत्य को ही अपनाना पड़ा।

वसन्तिका! तू देवी होती, मनुष्य क्यों हुई। मनुष्य होकर तो मनुष्य ही की तरह जीवन के कठोर सत्य अपनाने पड़ते हैं।

× × ×

वैरागी लखनपुर से लौट आया, पर वह क्षण भर भी शान्त न बैठ सका—औषधालय-भवन निर्माण हो चुका था। उसकी सफ़ाई इत्यादि वैरागी ने अपने सामने कराई थी। वह वसन्तिका को यह सन्देशा देने आया था कि जितना शीघ्र हो सके, वह अपनी एकत्रित दवाइयाँ औषधालय में भेज दे ताकि किसी शुभ मुहूर्त में उद्घाटन हो जाय और काम चालू हो।

वैरागी इन दिनों न तो समाधिस्थ होकर बैठता था न विश्राम करता था, बल्कि अहिर्निश अपनी उस कल्पना को, उस आकांक्षा को पाकर जिसे गङ्गा के तट पर हृदयस्थ किया था उसी में लीन रहता था।

सच तो यह है कि उस समय शान्ति उसके लिए थी भी नहीं। कितने धैर्य्य से वह इन दिनों की बाट जोहता आया है, अब उसे अधिक प्रतीक्षा करनी अरुचिकर ज्ञात होती है। वह अपने अभीष्ट को सिद्धि चाहता है।

वसन्तिका चालित यंत्र-सी सभी सामग्रियाँ लखनपुर भेज रही है। इन दिनों उसे भी विराम नहीं है। सिर पर रक्खे हुए भार को सुगमता से वहन करने के लिए अपनी कठिनाइयों को सरल कर रही है।

क्रमशः सभी सामग्रियाँ भेज दी गईं। वसन्तिका ने एक दिन वैरागी से पूछा—"बाबा, लखनपुर कब चलना होगा?"

वह जैसे उस प्रश्न की प्रतीक्षा ही करता रहा हो। झट बोल उठा—'कल!"

दूसरे दिन वैरागी, वसन्तिका और अधिराजा लखनपुर में दिखलाई पड़ रहे थे। वैरागी के हाथ में एक पत्र था जिसके अनुसार आवश्यक सामग्री आर्डर द्वारा मँगवानी थी। वसन्तिका औषधालय की आलमारियों के सामने खड़ी अधि-

राजा के हाथ से दवाइयाँ लेकर सजा रही थी। सारे दिन अविराम परिश्रम करना तीनों व्यक्तियों का कार्य था।

वह दिन भी दूर न रहा, जब सारी सामग्रियाँ जुटा कर औषधालय की आलमारी में सजा दी गईं और पुण्य तिथि में 'दीन-औषधालय' का वैरागी द्वारा उद्घाटन हुआ।

वसन्तिका उसी दिन से अपने कार्य में जुट गई। अधिराजा सीखने के साथ ही साथ परिचारिका का कार्य करने लगी और वह सत्तर वर्ष का लँगोटिया वैरागी, रागी-सा बनकर चारों ओर से दीनों के लिए याचना करने लगा।

धीरे-धीरे आस-पास के गाँवों में दीन-औषधालय का नाम विज्ञापित होने लगा और क्रमशः वसन्तिका की जिम्मेदारी भी बढ़ने लगी। एक ओर तो रोगियों की भीड़ जमा होने लगी और दूसरी ओर वसन्तिका का सुयश चारों ओर फैलने लगा। दीन-दुखियों के साथ ही साथ धनी वर्ग का भी रुख मुड़ा। सन्तोष प्राप्त धनी औषधालय को आर्थिक सहायता भी पहुँचाने लगे। सब से अधिक प्रशंसात्मक कार्य जो वसन्तिका ने कर दिखाया वह क्षय रोग से पीड़ित बीमारों का अच्छा करना था। नब्बे प्रतिशत क्षय रोगी अच्छे होकर जाने लगे। वसन्तिका का नाम आस-पास भर ही नहीं, प्रान्तों में धूम मचाने लगा। पहाड़ी के एक टीले पर एक सेनेटोरियम भी बनवा दिया गया। वसन्तिका की मदद के लिए परिचारिकाएँ भी और रख ली गईं। यह सब एक दिन में नहीं हुआ केवल इतने से कार्य में तीन वर्ष व्यतीत हो गये, किन्तु वैरागी का सञ्चय पुण्य, जो वसन्तिका के रूप में उदय हुआ, वास्तव में लोक-कल्याण-कारक सिद्ध हुआ। वह घोर कर्मा वैरागी अपनी

धुन का पक्का समाज-सेवी ज्ञात हुआ। वसन्तिका के जीवन को ओजपूर्ण बनाये रखने के लिए वसन्तिका से अधिक परिश्रम करने लगा। वसन्तिका वैरागी के इस दुस्साहस से चकित हो गई। एक दिन वसन्तिका बोल ही उठी—'बाबा! अधिक शारीरिक परिश्रम मत किया करो!"

"क्या होगा बेटी?"

"गिरता हुआ स्वास्थ्य सँभाला सँभलेगा?"

'न सँभलेगा तो न सही, अब मुझे चिन्ता क्या है।"

"तुम्हें हो या न हो, पर मुझे तो है।"

'तुझे किस बात की चिन्ता बेटी? अब तू अबोध, अनुभव-शून्य नहीं है। तेरा संसार से पर्याप्त परिचय है। संसार को तूने यह प्रकट कर दिया कि उसे तेरी आवश्यकता है। फिर जब तू मानव-समाज की आवश्यकता बन गई है तब तुझे भी क्या चिन्ता!"

"यह सब तो तुम्हारे आशीर्वाद का फल है। मेरा अपना कुछ नहीं। मुझे तो सदैव तुम्हारे आशीर्वादों की आवश्यकता पड़ती रहेगी। बाबा, मैं प्रार्थना करती हूँ, तुम सतर्क रहा करो।"

"वसन्तिका, कुतर्क तो मैं कुछ करता नहीं। हाँ, यह विशेष बात तू ही बता, क्या क्षणिक जीवन के मोह के लिए कर्म-बंधन तोड़ दूँ? नहीं, अब ऐसा नहीं हो सकता। दो दिन के लिए विमुख होना अनुचित है।"

वसन्तिका कुछ कह न सकी। वह चुप हो गई। पुनः दिन व्यतीत होने लगे। वैरागी अपना कार्य करता जाता था। वसन्तिका, अधिराजा और अन्य परिचारिकाएँ अपने कार्यों में व्यस्त रहती थीं। किसी को अपना काम छोड़ दूसरे से

कुछ कहने-सुनने का अवकाश न था। इन सबों का एक सुन्दर परिवार बन गया था। एक दूसरे को एकता से रचनात्मक कार्य में सफलता मिलती जा रही थी।

× × ×

जागृति के दिन थे! सारे देश में जन-सत्तात्मक शासन-विधान की चर्चा चल रही थी। चारों ओर देश में जागृति के चिह्न थे। मज़दूर, किसान, रईस, ग़रीब सभी अपने अधिकारों की माँग कर रहे थे। इनमें संघर्ष चल रहा था। देश की एक विचित्र स्थिति थी। युवकों में जीवन था, स्त्रियों में जागृति थी। स्वार्थी नेताओं की पोल खुल गई थी।

दौलतशाह एक वैभव सम्पन्न जागीरदार थे। लोग कहा करते थे कि अंग्रेज़ सरकार उनपर बहुत प्रसन्न रहती है। प्रसन्नता के फल-स्वरूप उन्हें कई उपाधियाँ भी मिल चुकी थीं। वे जागीरदार ही थे, पर उनका रहन-सहन तथा आमदनी छोटे-मोटे राजा से कम न थी। उन्हें अपने इलाक़े में फ़र्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट के अधिकार भी मिल गये थे। यद्यपि वे कानून में शून्य थे और दीवानी फौजदारी सब कुछ उनके लिए समझना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव था, फिर भी "राजा करे सो न्याय" लोकोक्ति प्रचलित थी। वे कानून को सर्वसाधारण के न्याय का अङ्ग न समझ कर केवल अपने स्वार्थों के लिए प्रयोग करते थे। उनका सिद्धान्त था कि कानून की आवश्यकता ग़रीब को नहीं, वरन् धनी को ही है। ग़रीब के पास है ही क्या, जिसके लिए कानून की धाराएँ मान्य हों। ग़रीब तो सदैव कानून भङ्ग किया ही करते हैं; किन्तु यह कार्य धनी का है कि कानून का सर्वसाधारण द्वारा पालन कराये। जो न पालन करें उन्हें दण्ड दें।

दौलतशाह में एक अजीब मस्ती थी। राजस्व के उच्छृङ्खल मद में चूर रहते थे। वे मनस्वी थे, किन्तु उस मनस्वीपन का शुद्ध रूप अहङ्कार ही था। उसी के वशवर्ती होकर वह अपनी ग़रीब प्रजा को सदैव शासित ही समझते थे।

एक बार उनकी प्रजा में जागृति फैली। अनीति के प्रति असन्तोष प्रदर्शित किया गया। जन-तंत्रात्मक विधान के माँग की सविनय घोषणा की गई; किन्तु दौलतशाह ने नर-मेध यज्ञ करा कर शान्ति की श्वास ली। स्वार्थी नेताओं के नेतृत्व में प्रजा की पुकार निःस्वर बना दी गई। दौलतशाह का हित ही हुआ। वह विजयदर्प से गरज कर कह उठे—'मैं कब किस काम में असफल रहा!"—उनकी सीधी सफलता की कुञ्जी प्रजा के रक्त की प्यास थी। वह उन्हें मिल गई। वह प्यास की अधिकाधिक तृप्ति करने लगे। दौलतशाह की जागीर विन्ध्य की पहाड़ियों से लेकर एक लम्बे-चौड़े भू-भाग तक फैली हुई थी। उन्हें इलाक़े से दो लाख रुपया मिलता था। किसी तरह उस सम्पत्ति का सद्व्यय करने के लिए सीधा-सादा रहन-सहन करके उन्होंने अपने पास कुछ पूँजी भी एकत्रित कर ली, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह पूँजी प्रजा के बीच व्यय की जाय, वरन् उसका तात्पर्य यह था कि किसी चक्रव्यूह द्वारा प्रजा की कमाई का शोषण भी वह एकत्रित पूँजी कर सके। दौलतशाह ने अपने कार्य में सफलता पाई। बैङ्क के रूप में वह पूँजी चमक उठी। प्रजा एक बार तो उस प्रकाश की ओर झुकी; किन्तु क्षणिक अनुभव में यह जानकर सिहर उठी—बैङ्क तो खून का पसीना और पैसा दोनों चाहता है।

मदोन्मत्त दौलतशाह हँस पड़े। पैसा आया, मद आया, मदिरा भी आगे बढ़ी। अपने में मदिरा को साकार पाकर दौलतशाह विन्मय विमुग्ध हो उठे। उनके पाशविक अत्याचार प्रकट होने लगे।

प्रजा दिन-दिन लुटने लगी। स्वेच्छाचारी शासकहीन वृत्तियों से उद्दीप्त होकर जलने लगा। प्रजा ने आह की। उसने ठोकर से गिरा कर हृदय-पिण्ड तक मसल दिया। प्रजा आर्त स्वर में चिल्ला उठी। उसने गरज कर कह दिया—'चुप रहो, शोर मत करो; मैं जो चाहूँ, वह होगा!" प्रजा ने प्रार्थना की—"मैं भूखी-प्यासी वस्त्रहीन हूँ—मेरी रक्षा करो।' उसने आज्ञा दी— इन्हें हटा दो! मेरे पास ये गरीबी की पुकार सुनाने क्यों आये?"

प्रजा की असन्तुष्ट मनोवृत्ति भड़की। वह इधर-उधर सहारा खोजने लगी। वह चाहती थी, कोई उसे मार्ग बताये। ऐसी सीधी राह बताये कि वह अपने लक्ष्य तक पहुँच जाय। उसका दुख-दर्द दूर हो जाय। फिर चाहे वह कैसा ही दुर्गम पथ क्यों न हो, वह चलने को तैयार है। प्रजा ने अपने चारों ओर देखा, वह इस खोज में दूसरों को अपना दुःख सुनाने लगी। उसे लोकमत प्राप्त होने लगा। जिसने उनकी दर्द भरी कहानी सुनी, वह उनका हो गया।

प्रजा का एक नेता था, वर्षों से निर्वासित। प्रजा से दूर—बहुत दूर लोग उसकी कहानियाँ सुनते थे। उसकी सेवाओं को समझते थे। वह दूर देश में अपने जीवन की बाज़ी लगाये एकाग्र मन से निःस्वार्थ सेवाएँ किये जा रहा था। प्रजा को

अब उसकी ज़रूरत खलने लगी थी। प्रजा चाहती थी, उसे सादर बुलाया जाय।

प्रजा ने एक संयुक्त प्रार्थना दौलतशाह की सेवा में प्रेषित की। प्रजा की माँग थी कि उसका निर्वासित नेता बिना किसी शर्त के आने दिया जाय। इस बार प्रजा संगठित थी और दृढ़ प्रतिज्ञ भी; किन्तु दौलतशाह के आँखें नहीं थीं। उन्होंने प्रजा की माँग को ठुकरा दिया।

जगह-जगह जनता ने मिलकर प्रस्ताव पास किये। सैकड़ों हजारों की तादाद में लोग सामने आये। सबने एकस्वर से चिल्ला कर भगवान का नाम लिया।

दौलतशाह भी कब पिछड़ने वाले थे। उन्हें अपने को बढ़ाकर सिद्ध करने का गर्व था ही, वे शास्त्रोक्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध करते थे कि वे ईश्वर के प्रतिनिधि हैं; अतः अपनी बातों को अमान्य होते देख उन्हें प्रजा पर और अधिक क्रोध आया। दौलतशाह ने कर्मचारियों को आज्ञा दे दी—"जैसे हो सके प्रजा के मुँह में ताले डाल दो।"

लाठियाँ चलने लगीं। लाठियाँ ही क्या, समय-समय पर नरमेध-यज्ञ होने लगा, राक्षसी मामा का जघन्य रूप चारों ओर विकराल अट्टहास करने लगा। सब पर आतङ्क था, एक व्यक्ति की स्वेच्छा के रोब का पर्दा डाला जाने लगा—निरीह प्रजा सब कुछ सहने लगी; किन्तु चुप होकर नहीं; वरन् यह चिल्ला कर कि जो कुछ हो रहा है, वह जुल्म है, दानवी माया है, उसे हम अपनी श्वास रहते प्रसन्नता से सहन अवश्य करेंगे; किन्तु प्रति श्वास में हमारा विरोध उनके दिल पर आघात करता रहेगा।

कुछ समय यूँ ही बीता। प्रजा के त्याग, तपस्या ने चारों ओर जीवन फूँक दिया। चारों ओर जागृति थी। जितना ही आंदोलन को दबाने के लिए दमन-चक्र चलाया जा रहा था उतनी ही तेज़ी से प्रजा आगे ही आगे बढ़ रही थी, अंत में दौलतशाह ने थोड़ी-सी रिआयतें देकर इस आग को दबाना ही उचित समझा। दौलतशाह ने प्रजा के प्रतिनिधियों को छोड़ दिया और निर्वासित नेता प्रकाश को भी इलाक़े के अन्दर आने की आज्ञा दे दी।

प्रकाश आया, वही जो वर्षों से निर्वासित था। अब वह पुनः प्रजा के बीच हँसते हुए खड़ा हुआ। प्रजा उसका सहयोग पाकर बोल उठी—"प्रकाश, तुमने गाँव के बाहर बड़ी-बड़ी सेवायें कीं। अब हम लोगों की सेवा करो। हमें अपना सहारा दो, और चाहे इस कठिन व्रत में प्राण देकर ही क्यों न हो, उबार लो।"

प्रकाश ने आगे बढ़कर कहा—"भाइयो! मैं स्वयं कुछ नहीं हूँ। तुम्हें लड़ाई अपने बल पर लड़नी है। तुम सब संगठित हो तो सफलता तुम्हारे सामने है, पर संगठन का अर्थ यह कदापि नहीं कि जब कहीं सभा, सोसाइटी हो, लेक्चर हो, तो वहाँ जाकर सभी इकट्ठे हो जाओ और उसके बाद जैसे एक दूसरे से कोई गरज ही नहीं।"

बीच ही में जनता ने चिल्ला कर कहा - "नहीं, ऐसा नहीं करेंगे। हमें जो आदेश दिया जायगा, उसका पालन करेंगे। हम लोग भी थोड़ा बहुत अपना हित-अहित समझने लगे हैं।"

"तो"—प्रकाश ने आगे कहना शुरू किया--"आप लोग कम से कम माँगें रक्खें जिनके बिना आपके जीवन में प्रति-दिन कठिनाइयाँ सामने आती हैं। साथ ही रचनात्मक

कार्य करें। रचनात्मक कार्य से मेरा तात्पर्य है कि आप लोग उद्योग-धन्धों की ओर अपने रुख को परिवर्तन करें। अपने बालकों को शिक्षा को ओर अग्रसर करें। ग्राम-सुधार करें, सफाई करें, खादी पहिने, चर्खा कातें, मादक वस्तुओं का निषेध करें, अपने बालकों में स्वयं-सेवक बनने को भावना को भरें, अपने आपसी झगड़ों को अदालत को शरण न लेकर पंचायत में ही तय करें। आपके न्याय का आधार गवाह और क़ानून के शब्द न होकर वास्तविकता और सत्यता हो। आपके सम्मुख ये सब कार्य हैं जिनको बड़ी लगन के साथ मानवीय जीवन को तपस्या समझ कर करें, आप कह सकते हैं कि आप यह सारे कार्य कैसे कर सकेंगे? आपके पास आवकाश नहीं, धन नहीं बुद्धि नहीं पर मैं कहूँगा कि यदि आप अपनी कठिनाइयों को समझने हैं और उसके लिए सभी मिल जुल कर अपनी सामूहिक माँग बता सकते हैं तो फिर आपको प्रतिनिधियों की कमी न होगी, बौद्धिक सहायता भी मिलती रहेगी, सारे कार्य-क्रम को क्रम-बद्ध दैनिक जीवन में बरतना होगा। इसकी सफलता के लिए आपको जिस किसी को आवश्यकता होगी, वह अपनी सेवाओं के साथ आपके सामने उपस्थित रहेगा। आपके सामने तो केवल कार्य-क्रम यह है कि क्या आप अपनी आवश्यकताओं को जाहिर करने के लिये एक ही स्वर से कह सकेंगे। क्या आप यातना, दमन एवं हिंसा को सहकर भी यह यह बात सकेंगे कि आपको इनकी कुछ भी आवश्यकता नहीं। यही सब जुल्म हैं जो आपकी आवाज़ों को चुप कर देने के लिए बर्बर राज-शक्ति द्वारा प्रयोग में लाये जाते है। क्या आप सदियों से, जिस न्याय को पाने की आशा में, हड्डियों का एक जीर्ण-शीर्ण ढाँचा लिये, अपमानित,

तिरस्कृत एवं दुःशासित होकर भी जीवित हैं, सचमुच प्राप्त करना चाहते हैं ? यदि इसका जवाब आपके पास "हाँ' में है, तो यह ध्रुव सत्य है कि आप उसे प्राप्त करके ही छोड़ेंगे, आने वाली सन्तानें आपकी देवता की भाँति पूजा करेंगी।"

सारी जनता की ओर से एक व्यक्ति ने खड़े होकर कहा—"प्रकाश! जिस तरह चाहो बेड़ा पार करो। तुम हमारे नाविक हो। नये नाविक नहीं; बल्कि बहुत पुराने। एक बार अपने जीवन का सारा बोझ डालकर, हम लोगों ने देखा है कि तुमने कितनी सफलतापूर्वक हमारी रक्षा की थी; पर दुर्दैव ने कुछ दिनों के लिए तुम्हें हमसे छीन लिया था, इसलिए हम लोग पुनः बगूलों में चक्कर काटने लगे। अब तुम पुनः सामने हो, तुम अपना भार सँभालो और हम लोगों के जीवन की रक्षा करो। हम तुम्हारी आज्ञा के सहारे अन्धे बन कर चलने को तैयार हैं। हमें तुम पर विश्वास है।"

प्रकाश ने कहा—"तो बस, आप लोग अपने कामों में जुटिए। आप लोगों की जब जैसी आवश्यकता होगी. सूचित करूँगा।"

× × ×

ब्रिटिश इण्डिया में रह कर प्रकाश ने शिक्षा-प्रचार का कार्य पूर्णतः मनोयोग-पूर्वक समाप्त किया था; पर अब जब वह अपनी मातृभूमि में आकर पुनः रहने लगा, तो उसका कार्य-क्रम बदल गया। प्रकाश को केवल यह कार्यक्रम बनाना था कि प्रजा आन्दोलन को मूर्त-रूप देकर किस प्रकार अपनी सङ्गठित शक्ति के लिए ही केन्द्रित कर दे।

• समय और परिस्थितियों ने सारी सामग्री जुटा रक्खी थी। जागीरदार के शासन ने एक ऐसा असन्तोष प्रजा को

निर्बल काया में भर रक्खा था जो प्रकाश को पाकर सबल हो उठा। भाँति-भाँति के करों के शिकञ्जे में छटपटाती हुई प्रजा ने प्रकाश से प्रार्थना की कि इन सब के विरुद्ध आन्दोलन किया जाय। सारी प्रजा एकस्वर से प्रकाश के विचारों का समर्थन करेगी और एक संगठित शक्ति द्वारा अनीतिमय शोषण की शृङ्खला को छिन्न-भिन्न कर देगी।

प्रकाश नेता निर्वाचित किया गया। प्रकाश के विचारों को सुनने-समझने और उन्हें रचनात्मक कार्य-रूप में परिवर्तित करने में प्रजा अपने समय का सदुपयोग करने लगी।

प्रारंभ में तो चर्खा-प्रचार, मद्य निषेध, सामाजिक संगठन आदि बातों पर विशेष ज़ोर दिया गया। प्रजा ने प्रकाश को समझा और अपने कार्यों द्वारा वह प्रकाश का प्रेम प्राप्त करने में उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। उन लोगों ने विशेषतः किसानों और उनके बच्चों को पढ़ाने लिखाने, दुनिया की परिस्थितियों पर प्रकाश डालने, प्रौढ़-शिक्षा-योजना को सफलीभूत बना देने में प्रशंसनीय कार्य किया।

वाचनालय एवं पुस्तकालय की स्थापना की गई। दो-दो, चार-चार गाँवों के बीच इनकी छोटी-छोटी शाखाएँ भी खोल दी गईं। प्रायः प्रत्येक ग्रामों में बालकों को शारीरिक विकास का पूर्ण लाभ प्राप्त करने के हेतु व्यायाम-शालाएँ खोली गईं। आपस का भेद-भाव मिटाया गया।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब कार्य निर्विघ्न ही पूर्ण होते गये, बल्कि अड़चनें और बाधाएँ तो इतनी सामने आईं कि कार्यक्रम का पूरा करना—प्रतिदिन असंभव-सा

होता गया, किन्तु कष्टसहिष्णुता एवं कार्य-सम्पादन करने की तत्परता ने असंभव का रूप प्रतिदिन छोटा करना आरम्भ किया और एक नियमित समय में असंभव को विचार-धारा लोप हो गई।

राष्ट्र या जाति-निर्माण का कार्य वस्तुतः बहुत जटिल, कठिन, पेचीदा और न सुलझती हुई पहेलियों से भरा हुआ होता है; किन्तु तपस्या, साधना एवं अडिग लगन ही इसे पूर्ण करने में समर्थ होती है!

प्रकाश के जीवन का विशेष व्यापार जाति, समाज एवं राष्ट्र की हित-कामना में ही पूरा होता था, इसलिए सफलता भी उसका साथ देने में न हिचकती थी।

जिस कार्य को प्रकाश ने अपनी देख रेख में प्रारम्भ किया, उसमें आशा से अधिक सफलता प्राप्त होते देख अपने आस-पास और ब्रिटिश इण्डिया की परिस्थिति का एक बार उसने गंभीर अध्ययन किया और उसे ज्ञात हुआ कि भूखों और नङ्गों के हृदय में असन्तोष ने क्रोध भर दिया है।

× × ×

ज़माना वह आया कि अभी थोड़े ही वर्ष पूर्व रण शय्या को छोड़कर शान्तिपूर्वक सोने की चेष्टा करने वाली मेदिनी, पुनः एक महासमर का प्राङ्गण रचा कर, रण-शय्या पर लेटने चली। वैज्ञानिक यंत्र और उपकरणों द्वारा शोषण की व्यक्तिगत तृष्णा ने संसार में शान्ति स्थापित रखने की दुहाई देकर, मेदिनी के पवित्र पर्यङ्क को आहत प्राणियों के निर्दोष रक्त से पोत दिया। परिभाषा में एक दूसरे से बेमेल

रखते हुए भी, युद्ध, दो साम्राज्यवादी शक्तियों में छिड़ ही गया। दम्भ की अन्तिम पराकाष्ठा तक पहुँची हुई इन दो बेजोड़ विश्व-शांति की डींग हाँकने वाली राष्ट्रों की सभ्यता अपने नग्न रूप में नर्तन करते हुए दिखलाई पड़ी। इनके इस अशुभ और कुरूप कृत्यों को देख कर दुनिया स्तम्भित रह गई—नहीं—बल्कि काँप उठी। जर्मनी, जापान, आदि सत्तावादी राष्ट्रों की गौरव-पताका कलङ्कित हो गयी।

इन घटनाओं का असर जितना भारत पर पड़ा, उससे कहीं ज्यादा राज्यों की रिआया पर। उन बेचारों पर दुधारा चल रहा था। प्रभुओं की गुरु-सत्ता, अपने प्रिय देशी राज्यों की शिशु-सत्ता को अपने से आगे बाज़ी मार ले जाने की चुनौती दे रही थी। देशी नरेशगण अपने अस्तित्व की इस डावाँडोल परिस्थिति में अपने अधिकारों में न्यूनता करने की माँग को ठुकरा रहे थे। ऐसी भीषण परिस्थिति में, दौलतशाह की छोटी सी स्टेट कौंसिल के सामने कई प्रस्ताव विचारार्थ सामने आये। कौन्सिल के प्रेसीडेण्ट स्वयं दौलत-शाह ही थे।

घण्टों तक की लम्बी बहस के दौरान के बाद भी निर्णय वही निकलता था, जिसे दौलतशाह चाह रहे थे, अस्तु अंतिम निर्णय यह हुआ कि प्रकाश को बन्दी बनाया जाय। उसे कठिन कारावास का दण्ड दिया जाय। प्रजा को द्रोही न होने देने में, अमन या दमन जो भी संभव उपाय हो, काम में लाया जाय।

इधर जो भूल दौलतशाह ने एक बार की थी, उसी को उन्होंने दोहरा दिया। प्रजा के कितने ही प्राणी जेलों में ठूँस दिये गये। दौलतशाह ने तो समझा यह कि पाशविक दमन

प्रजा को थर्रा देगा; किन्तु परिणाम उल्टा हुआ। जेल क़ैदियों से भर गईं। आने वाले क़ैदियों को बन्द रखने का स्थान ही न रहा। शाही खजाने से कैदियों पर होने वाला व्यय चलाना ही कठिन हो गया। अन्ततः दुर्व्यवहार की मात्रा असह्य हो गई। कैदियों ने अनशन प्रारम्भ कर दिया। प्रकाश तो बीमार पड़ गया। कई डाक्टरों ने बताया कि उसे यक्ष्मा के कीटाणु अपना शिकार बना रहे हैं।

प्रजा भी बौखला उठी। उसने असहयोग कर दिया। शहर की दुकानें बन्द हो गईं। सड़कें तथा राजपथ सूने दिखाई देने लगे। लोगों की आवश्यकताएँ रुकने लगीं। मजदूरों और नङ्गों में सामूहिक क्रान्ति की लहर फैलने लगी। जितना ही जोर से दमन किया जाता था, उसी प्रबल वेग से लोकमत अत्यन्त दृढ़ हो रहा था। चारों ओर से आवाज़ उठ रही थी—'प्रकाश और क़ैदियों के जीवन की रक्षा की जाय।"

प्रकाश का परीक्षण कई डाक्टरों द्वारा कराया गया और उन लोगों ने स्वीकार किया कि यदि शीघ्र ही इनकी अवस्था में परिवर्तन न किया गया तो निस्सन्देह यक्ष्मा का शिकार होना पड़ेगा। साथ ही डाक्टरों ने यह भी अनुमान प्रकट किया कि बीमारी के घटने-बढ़ने की अधिक जिम्मेदारी प्रकाश पर ही है क्योंकि इन्हें शारीरिक व्याधियों से अधिक भयंकर एक और मानसिक रोग है। इनके लक्षणों से ज्ञात होता है कि यह किसी बात का विशेष चिन्तन करते हैं जो इनके हृदय-कमल को मुरझा देता है।

विशेष छानबीन तथा लोगों की राय से यह निश्चित किया गया कि विन्ध्य के सेनिटोरियम में प्रकाश भेजे जायँ।

वहाँ के रम्य दृश्य तथा सुखद जलवायु प्रकाश को नवजीवन प्रदान करेगी। प्रकाश भी जलवायु का परिवर्तन तो चाहता ही था। विन्ध्य के सेनिटोरियम तथा वहाँ की महिला-डाक्टर वसन्तिका के उपचार की प्रशंसा तो वह न जाने कितने व्यक्तियों द्वारा सुन चुका था, पर प्रकाश तो इसीलिए विशेष प्रसन्न था कि उसे जाना है वहाँ जिन पहाड़ियों के एकान्त में बैठ कर वह एक बार अपने जीवन का विश्लेषण करने गया था और अब वर्षों पश्चात् पुनः उसी एकान्त में बैठकर अपने जीवन के अतीत पृष्ठों को पढ़ेगा और समझेगा कि आज वह क्या है ?

बस, देर क्या थी, प्रकाश की यात्रा की तैयारियाँ होने लगीं। दो दिनों में सब कुछ ठीक कर दिया गया। साथ में जाने वाले लोग भी अपनी सेवाएँ प्रकाश को अर्पण करने के लिए सन्नद्ध थे, पर प्रकाश को यह रुचा नहीं। उसने अपनी अस्वस्थता को एक विडम्बना का रूप देने के लिए किसी को अपने साथ उलझाया नहीं। उसका एक साथी था—उसका पहाड़ी सेवक बुधुवा। हाँ, वहाँ तक पहुँचाने के लिए उसके सुहृद वनमाली और दिनेश साथ हो लिये। एक निश्चित दिन में प्रकाश और उसकी पार्टी ने प्रस्थान भी कर दिया।

प्रकाश सारे मार्ग के समय में, अपने साथी बनमाली और दिनेश को अपने विचारों से अवगत कराता रहा, उसने बार-बार अपने साथियों को समझाया कि ज़माना दिन पर दिन ऐसी भयावह विचित्रता से बदल रहा है, इसका घटनाचक्रों के साथ अध्ययन करते हुए अपने ध्येय की ओर बढ़ना होगा। प्रकाश का ध्येय क्या है, इसे संभवतः बनमाली और दिनेश ही जानते थे।

ज्यों-त्यों करके प्रकाश अपनी पार्टी सहित सेनिटोरियम में लेडी डाक्टर वसन्तिका के पास उपस्थित हुआ। वसन्तिका उस समय भी अपने मरीज़ों की टोली लिये कार्य-व्यस्त थी। वसन्तिका को बताया गया कि उसकी उपचार-शाला में कुछ नवागन्तुक आये हुए हैं। वसन्तिका ने उन्हें प्रतीक्षा करने, तथा विश्राम करने की आज्ञा दे दी।

प्रकाश, वनमाली और दिनेश उपचार-शाला के एक कमरे में बैठे सेनिटोरियम तथा उसके संचालन करने की बात पर कई तरह से तर्क-वितर्क करते हुए संन्यासी तथा वसन्तिका के जीवन के पक्ष उलट रहे थे।

सहसा वसन्तिका ने कमरे में प्रवेश किया। उसकी उचटती हुई दृष्टि प्रकाश पर पड़ी। एक विचित्र कौतूहल तथा आश्चर्य ने वसन्तिका की कार्य-व्यस्त मुद्रा को छिन्न भिन्न कर दिया। वह क्षण भर अवाक् रही तथा निश्चेष्ट। प्रकाश तथा उसके साथियों ने उठकर वसन्तिका का अभिवादन किया। वह सब के अभिवादन को विनम्र स्वीकार करती हुई अपने स्थान पर जा बैठी।

वसन्तिका ने दिनेश से पूछा—'हाँ, आपके बीमार महाशय कौन हैं?"

वनमाली प्रकाश की ओर इंगित कर ही रहा था कि प्रकाश स्वयं बोल उठा—"डाक्टर साहिबा! मैं बीमार उनका नहीं, आपका हूँ।"

"मैं दवा करूँगी!"—इन शब्दों में वसन्तिका ने प्रकाश से बोलना शुरू किया। वसन्तिका को झरने पर के वे पुराने

दिन याद आ गये जब वह वनवाला के वेश में एक बार प्रकाश के सम्मुख गई थी—और तब से लेकर अब तक के जीवन का दृश्य पल भर के लिए वसन्तिका के नेत्रों में झूल-सा गया। वसन्तिका ने प्रकाश से पूछा—"क्या कभी मैंने आपको देखा है?"

"आपको याद होना चाहिए!"—प्रकाश ने उत्तर दिया।

वसन्तिका लज्जा से अवनत हो गई। उसने प्रकाश से कहा—"मैं अब आपके साथियों से बातें करूँगी, कृपया आप शान्त रहें।"

प्रकाश मुस्करा कर चुप हो गया। वसन्तिका, दिनेश और वनमाली से प्रकाश के सम्बन्ध की सारी बातें छानबीन करने लगी। प्रकाश कौन है, कहाँ रहता है, बीमार कैसे हुआ, कब से रोग का शिकार है, आदि उपचार सम्बन्धी व्यवहार की बातें करने लगी। वनमाली और दिनेश ने भी प्रकाश का रोगी के रूप में साधारण-सा परिचय देकर, प्रकाश की शारीरिक परीक्षा की याचना की।

वसन्तिका ने साधारण परीक्षा करने के बाद, आगे तीन-चार दिनों तक और परीक्षा करते रहने का आश्वासन दिया। प्रकाश के रहने ठहराने का भी प्रबन्ध कर दिया गया। इधर दिन में दो बार वसन्तिका आती, परीक्षा करती, चली जाती और प्रकाश का सारा समय वनमाली और दिनेश के साथ गपशप करने में बीतता। कई दिनों तक यही क्रम चलते रहने के पश्चात्, एक दिन वसन्तिका ने प्रकाश की अन्तिम शारीरिक परीक्षा करके उसे उपचारशाला में दाखिल कर

लिया। एक सप्ताह पश्चात् बनमाली और दिनेश भी अपने-अपने कामों में जाकर जुट गये।

× × ×

प्रकाश का उपचार होता रहा, फिर भी न जाने क्यों उसकी अवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। प्रकाश की अवस्था दिन-प्रतिदिन कुछ क्षीण होने लगी। वसन्तिका मनोयोगपूर्वक उपचार करने पर भी प्रकाश को अच्छा न कर सकी थी। उसे भी व्यथित होना पड़ रहा था, किन्तु वह समस्या का हल ढूँढ़ न पा रही थी। दिन में तो वह विशेष देख-रेख प्रकाश की न कर सकती थी, पर रात्रि में अपने अवकाश और आराम का विशेष समय प्रकाश की ही सेवा में व्यतीत करती थी।

एक दिन रात्रि आधी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी। पास ही पड़ा हुआ बुधुआ भी सो गया था। वसन्तिका प्रकाश के सिरहाने बैठी हुई थी। प्रकाश का सिर दबा रही थी। प्रकाश को उस दिन खाँसी की बहुत अधिक शिकायत थी। खाँसते-खाँसते फेफड़ा दुखने लगा, सारा शरीर निश्चेष्ट सा पड़ा था और साथ ही हलकी मूर्च्छना का प्रकोप भी हो जाया करता था। कई घण्टे तक निरन्तर एक ही अवस्था रहने से प्रकाश थक-सा गया था। उसकी आँखें अलसा गई थीं। वह एक हलकी निद्रा की थपकी में बेहोश था।

बरसात की रात थी। आकाश बड़ी-बड़ी बूँदों में रो रहा था। चारों ओर से हवा के झकोरे उस झड़ी लगी हुई रात में हहर-हहर कर वसन्तिका को कँपा रहे थे। वसन्तिका उस

तूफानी रात्रि में एक प्रदीप के प्रकाश में अपने प्रकाश को देख रही थी। प्रकाश इन दिनों आवश्यकता से अधिक दुर्बल हो चुका था। वसन्तिका की टकटकी लगाये हुए नेत्र, अन्दर ही अन्दर प्रकाश के उस मनमोहक सौंदर्य को, प्रकाश के सूखे मुँह में झलकते हुए देख रहे थे, जिस सौंदर्य का आभा से अपने अंतर को ज्योतित कर प्रकाश मानवता की सेवा में लग्न हुआ था; उसके मस्तक पर सोई हुई रेखायें जैसे बता रही थीं कि वह निद्रा में मग्न होने पर भी किसी गंभीर चिंता में व्यस्त है।

वसन्तिका को प्रकाश पहले ही दिन इसी रूप में दिखलाई पड़ा था—जैसे वह जीवन के प्रति उदास हो। उस घटना को बीते वर्षों हो गये थे। वसन्तिका के जीवन, उसके दृष्टिकोण और उसकी विचार-परम्परा में न जाने पहले से अब तक में कितनी असमानतायें पैदा हो चुकी थीं; किंतु प्रकाश की उदासीनता में वह आज भी वही समानता पा रही थी, जो उसे प्रथम परिचय में दिखलाई पड़ी थी।

इधर, प्रकाश जब से सेनिटोरियम में दाखिल हुआ था, वसन्तिका निरंतर उसके सहवास और सेवा में अपने अवकाश का अधिक समय व्यतीत करने पर भी यह नहीं जान पाई थी कि वह प्रकाश को कौन-सी आवश्यकता है, जिसकी चिंता ने उसे मृत्यु के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया है। वसन्तिका अपने आप ही यह विश्वास कर लेती थी, कि यदि उसे प्रकाश की चिंता का विषय ज्ञात हो जाय तो उसकी मानसिक व्याधि को दूर कर दे और मानसिक व्याधि के दूर होते ही प्रकाश यक्ष्मा रोग का शिकार अधिक दिनों तक न रह सके।

सहसा प्रकाश ने करवट बदली। उसकी निद्रा भंग हो गई। वसन्तिका के कर-पर्श ने उसे जागृत कर दिया। उसकी नजर दीवाल पर लटकती हुई घड़ी पर पड़ी। रात्रि के दो बज चुके थे। प्रकाश ने आश्चर्य से कहा—"अरे, अभी तक आप विश्राम करने नहीं गईं ?"

"इससे आपको क्या ? आप क्यों नहीं सोते ? मेरा तो यह जीवन ही है !"

"जीवन है तो क्या हुआ, शरीर यंत्र नहीं, वरन् हाड़-मांस का एक पिण्ड है। वह चाहे किसी का भी क्यों न हो, एक नियमित अवधि तक कार्य करने के पश्चात् विश्राम की आवश्यकता तो अनुभव करता ही है !"

"कुछ भी हो, पर जब मैं विराम का अनुभव किसी अभाव के रूप में नहीं करती तब उसकी विशेष उपयोगिता ही क्या !"

"पर मैं भी स्पष्ट यों क्यों न कहूँ कि मुझे अपनी व्यक्तिगत सेवाओं के लिए किसी के जीवन का निरंतर उपयोग करते रहने का अधिकार ही क्या ? और फिर वह जीवन, जिसको सेवाओं द्वारा अपने कल्याण की कामना रखनेवाले कितने ही हैं ? जो समुदाय या समाज का सेवक हो, व्यक्ति की गुलामी उसके लिए नैतिक पतन सिद्ध होगी।"

"मैं इतने बड़े तर्क तक आपके साथ जाने का साहस नहीं करती—क्योंकि मैं जानती हूँ कि आपको कम बोलना चाहिए, फिर भी मैं यह कहूँगी कि मैं जान-बूझ कर आपकी सेवा में

इतना समय व्यतीत करती हूँ। इसमें हित केवल आपका नहीं, वरन् मेरा भी है।"

"वह क्या ?"

"आप जानते हैं कि मैं आपकी उपचारिका हूँ !"

"जी हाँ !"

"और साथ ही आप इसे भी स्वीकार करेंगे कि आपको मानसिक रोग है !"

"जी हाँ।"

"तब आज मैं आपसे स्पष्ट कहती हूँ कि वह आपके अन्तर का कितना ही गहरा भेद क्यों न हो, यदि वह रोग के रूप में है, तो मैं उसे अवश्य जानूँगी—आपको किसी भी तरह बतलाना ही होगा।"

"बतलाना क्या ! देवी जी, मेरे हृदय का भेद वही है, जो आज की दुनिया में हर शख्श सोच रहा है। मेरी हसरत भरी आरजुएँ—मेरी लालसा, आकांक्षाएँ, मेरे हृदय की अडिग आशाएँ, मेरे अपने लिए कुछ नहीं। वह सब आज के दले-मसले प्राणियों की सेवा में समर्पित है, पर व्यथा तो यह है कि क्या मेरी सेवाएँ, उस पके हुए फोड़े की कचोटती हुई पीड़ा को हर सकेंगी, जो फोड़ा कि प्राणियों का प्राणियों के प्रति शोषण का भाव लेकर पैदा हुआ है। जानती हो वसन्तिका ! आज मनुष्य, मनुष्य के साथ सहानुभूति रखने के लिए तैयार नहीं। दाने से मोहताज व्यक्तियों की हीनता को हटाने से असमर्थ है। राजा प्रजा का सेवक नहीं। मनुष्य

देवत्व के बदले दानवीयता का उपासक है। मुट्ठी भर प्राणियों के हाथ, अपार विश्व के प्राणियों की मंगल-कामना कैद है। वे आज की दुनिया के निरंकुश मनस्वी राजा और पूँजीपति हैं! मैं उनको मिटाने के लिए नहीं, वरन् उनकी इन भावनाओं को दबाने का एक मार्ग सोच रहा हूँ। प्राणियों के पीड़ा की सहस्र-मूर्तियाँ मेरे अन्तर में छिप कर टीस पैदा करती हैं। इसलिए वसन्तिका, मैं सोचा करता हूँ एक बात! वह है गरीबी का पाप। मैंने एक छुटे से क्षेत्र के बाहर, इसे उठा कर फेंक देना चाहा था, पर वह ऐसा जँचा जैसे फेंका नहीं जा सकता। मैं आज उसी से डर भी रहा हूँ।"

"क्यों, इसमें डरने की क्या बात?"

'वही जो दुनिया के कोने-कोने आज के जीवन की आवश्यकताएँ रूढ़ि एवं मर्यादाओं को, प्राणियों के प्राण के साथ-साथ संहार करती जा रही हैं—लोग उसे कहते हैं क्रान्ति!'

"किन्तु मैं यह नहीं समझती कि आप गरीबी के पापों का सम्बन्ध क्रान्ति से कैसे जोड़ रहे हैं?'

"गरीबी के पापों का अन्तिम रूप क्रान्ति तो है ही, इसमें किसी सम्बन्ध के जोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। जानतीं हो, रूस और चीन की महान् राज्य-क्रान्तियों का मूल कारण क्या था? जीवन की आवश्यकताओं का अभाव! गरीबी!! राष्ट्र के जीवन की बागडोर यदि गरीबी के हाथों आ पड़ती है तो वहाँ केवल आर्थिक अभाव ही नहीं रहता, बल्कि आर्थिक अभाव अपने मूर्त रूप में व्यस्त होकर और अनेक मुफलिसी

को राष्ट्र के सिर मढ़ देता है। जनता का मानसिक बल क्षीण हो जाता है। अनेक चिन्ताओं की गठरी सर पर धरे हुए, जनता क्रम क्रम से शान्ति, सन्तोष, सदाचार आदि ईश्वरीय सम्पत्तियों को भी खो बैठती है। मनुष्य, मनुष्य के हाथों क्रीतदास बन जाता है। उसे पग-पग पर अन्न, वस्त्र, रोशनी, हवा आदि की आवश्यकताएँ बनी ही रहती हैं। जब बहु-समुदाय इसी रूप में हो जाता है, जिसके पास छिनने के लिए कुछ नहीं, किन्तु छीनने के लिये राग, द्वेष, प्रतिहिंसा होती है, तब क्रान्ति का जन्म होता है। क्रान्ति अनेक बार सफल भी नहीं होती, क्योंकि उसके संचालन करने की शक्ति का दिवाला जनता के द्वारा निकल जाता है, पर इससे क्या! एक महानाश तो नहीं रुक सकता।'

"यदि ऐसा होना प्राकृतिक है तो आप उसे रोक भी नहीं सकते, और तब फिर आप व्यर्थ ही आने वाली घटना की आशंका से महान् रोगी हुए जाते हैं। विश्व का जो व्यापार अवश्यम्भावी है मानव उसमें अपने आपको निमित्त ही क्यों समझता है। जो होना है, वह हो।"

"पर वसन्तिका! यहाँ मेरी अपनी व्यक्तिगत विचारधारा कुछ नहीं है। मैं जब इस बात को सोच रहा हूँ, तब एक सामाजिक कार्यकर्ता हूँ। मेरे व्यक्तिगत विचार भी सामाजिक विचारों से सम्बद्ध हैं। यहाँ मेरी एक ज़िम्मेदारी है—वह क्या—समाज को नाश की ओर जाने दूँ या रोकूँ। उत्तर सरल है कि मुझे कल्याण-पथ ही ग्रहण करना चाहिये. पर आगे जो बातें हैं, उन्हें सोचकर विकल्प [illegible] पड़ता है।

जनता सामने आती है—पूछती है—मेरे जीवनोपयोगी आवश्यकताओं का कोई हल निकला? इसके पहले मैं जवाब सोचकर दूँ, वह कहती है— अब हम अधिक प्रतिक्षा नहीं कर सकते। सहिष्णुता की भी एक सीमा है। माँगने पर कोई वस्तु नहीं मिलती। पर जो वस्तु प्रत्येक के जीवन के लिए प्राकृतिक आवश्यकता बनकर सामने आती है, प्राणी उसे पुरुषार्थ के बल से प्राप्त करता है। जनता कहती है—हाथ नहीं फैलायेंगे—शांति की प्रत्येक कलाओं का प्रदर्शन कर चुके—अब अपनी आवश्यकता का हल ढूँढ़ निकालेंगे या मर मिटेंगे। पास में खाने को कुछ नहीं।

ऐसी विपद की घड़ी में जनता कभी-कभी अपने नेता की भी परवाह नहीं करती। वह महानाश के पथ पर कदम बढ़ा देती है। नेता को पीछे छोड़ जाती है। अब समझ में नहीं आता क्या करूँ। मुझे जनता का साथ हर हालत में देना होगा, साथ ही जनता के कल्याण की रक्षा भी करनी होगी।

यह भी जानता हूँ—सत्ता प्रजा को किस तरह कुचला करती है और प्रजा भी सत्ता से कैसे भयानक बदले लेती है, किन्तु यह सब होने के बदले यदि गरीबी के पाप को हटाने की ही प्रवृत्ति रक्खी जाय तो यह सब हो क्यों कर। प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन प्रणाली होते हुए भी मैं राजतन्त्र का पक्षपाती हूँ, किन्तु राजा लोग भी जब अपने वास्तविक उत्तरदायित्व को समझें।"

"तो क्या आप दौलतशाह को अपनी ओर झुका नहीं सके?"

'अभी तक तो मैं असफल ही होता आया हूँ या सफलता जो प्राप्त है, वह नाममात्र को ही है। हाँ, अब तक इतना अवश्य हो सका है कि मैंने प्रजा का विश्वास प्राप्त कर लिया है। प्रजा मेरी राय के वज़न को भली भाँति समझती है।"

"अच्छा, यदि मैं आपकी समस्या हल करने में मदद पहुँचाऊँ तो ?"

'तो, आप चाहती क्या हैं ?"

'मुझे पुरस्कार में क्या मिलेगा ?"

"जो मैं दे सकूँगा।"

"किन्तु पुरस्कार वह देना होगा, जो मुझे अपेक्षित हो।"

"शक्ति भर प्रयास करूँगा।"

"अच्छा, तो मैं आपकी सफलता बन कर आपके सम्मुख आऊँगी। आप यथाशीघ्र बीमारी से आरोग्य होने का प्रयास कीजिये। रोगी का, निरोग होना बहुत कुछ रोगी के उस आन्तरिक बल भर निर्भर करता है, जिसके द्वारा वह कल्पना करे कि वह बीमार नहीं है।"

"अच्छा, अब आप भी विश्राम के लिए जाइये। आपकी इन सेवाओं के बोझ से प्रायः मैं दबा करता हूँ।"

वसन्तिका जाते-जाते कहती गई—"तो हल्का कर लीजिए न !"

"कैसे ?"—पर प्रकाश के इस प्रश्न का उत्तर दीवालों से टकरा कर शून्य में खो गया।

× × ×

विचारों में जीवन होता है और विचारों में ही मरण। प्रकाश जब तक अपनी समस्या का हल अपने आप ढूँढ़ता रहा, तब तक वह गुत्थियों में ही उलझता गया। जीवन के एक बड़े समय से वह निराशावादी हो रहा, इसलिए उसके व्यक्तिगत विचारों की छाया उसके सामाजिक जीवन में भी प्रायः निराशाएँ बिखेर दिया करती थीं। प्रकाश को अपने मित्रों तथा अपने निकटवर्ती कार्यकर्ताओं द्वारा बड़ी-बड़ी आशाओं के पूर्ण होने का सहारा मिलता था सही, पर उन आशाओं का उल्लास सदैव ही प्रकाश को जीवन नहीं देता था।

इस बार जेल जीवन में भयानक यातनाओं को सहते-सहते प्रकाश आक्रान्त होकर यही सोचा करता था कि क्या वह केवल मात्र अपनी एक आशा का भी पूर्ण होना नहीं देख सकता। यदि नहीं तो उसके जीवन का उपयोग कुछ भी नहीं। उसकी इसी भावना ने उसे भयंकर रोग के गाल में डाल दिया था। इधर वसन्तिका के उपचार का शरीर पर प्रभाव तो अवश्य अच्छा पड़ता था, किन्तु प्रकाश की निराशा से डूबी हुई भावनाएँ सब कुछ व्यर्थ कर देती थीं।

वसन्तिका एक मनोविज्ञान तथा चतुर उपचारिका थी। उसने प्रकाश के हृदय का भाव उसके सूखे चेहरे में अंकित पाया। उसे उसने प्रकाश द्वारा समझने की चेष्टा भी की और अन्त में प्रकाश को थोड़े ही समय में चङ्गा कर दिया।

प्रकाश भली भाँति अच्छा हो चुका था। दो-चार दिन पश्चात् उसके वापस जाने की तैयारी थी। सन्ध्या हो चुकी थी। प्रकाश अपनी चिर-परिचित घाटी में आने को उद्यत ही था। सहसा कमरे में वसन्तिका ने प्रवेश किया।

"आप कहीं जाने को उद्यत हैं ?"—वसन्तिका ने पूछा।

"जी हाँ, घूमने !"

"अच्छा, तो मैं भी आपके साथ चलती हूँ !"

"चलिए !"

प्रकाश और वसन्तिका दोनों चल पड़े। प्रकाश के घूमने का आज का प्रोग्राम वसन्तिका पर निर्भर था। वसन्तिका अपनी रुचि के अनुकूल ही घूमाते-फिराते प्रकाश को उस स्थान पर ले जाकर खड़ी हुई, जहाँ पत्थर की लकीर मार कर, एक प्रस्तर-खण्ड पर वर्षों पूर्व प्रकाश ने चार लाइन लिखी थीं—

आँसू है और रुदन है,
मूर्च्छा है घोर जलन है !
उफ़ ! मेरे नन्हे से मन में,
कितना उत्पीड़न है !

प्रकाश और वसन्तिका दोनों की दृष्टि साथ ही उस पत्थर पर पड़ी। वर्षों पूर्व की सारी स्मृतियाँ ताज़ी हो उठीं। वसन्तिका सभ्यता का आवरण हटा कर एक अजीब भावावेश में बोल उठी— 'यह तुमने लिखा था ! क्यों ?"

"हाँ, मैंने लिखा था !"

"इसका अर्थ ?"

"यदि उसके जानने का आग्रह तुम न करो !"

"नहीं, यह असंभव है, प्रकाश ! तुम मायावी हो। तुम नहीं जानते कि तुम्हारी इस कृति ने मुझे कितना भस्म किया

है। तुम्हारी इन कड़ियों में—जाने क्या—माया थी, जिन्होंने मुझे प्रथम बार ही, किन्तु सदा के लिए एक बन्धन में जकड़ दिया। मैं वर्षों से छटपटाती हुई अपने आपको दबाये, जीवन-संग्राम में लीन रही हूँ अब इस गुत्थी को अधिक पेचीदी बनाये रख कर जीवन के भावी संग्राम को चलाने की क्षमता मुझमें नहीं। मैं आज के दिन की प्रतीक्षा कर रही थी।"

"अच्छा तो सुनो! वसन्तिके! ये कड़ियाँ मेरे व्यक्तिगत जीवन की असफल कहानी हैं। आज मैं तुम्हें अपने नन्हे से जीवन की उस कहानी को बताता हूँ जिसे मेरे सिवा अन्य कोई नहीं जानता। जिन्हें जानकारी थी, वे अब इस दुनिया में हो नहीं रहे!"

वसन्तिका, प्रकाश की गाथा सुनने लगी। प्रकाश ने प्रारम्भ किया—

"मैं एक सम्पन्न एवं धनी माता-पिता का इकलौता बेटा था। मेरा जन्म बदायूँ ज़िले के एक ग्राम में हुआ था। मेरा पालन-पोषण बड़े लाड़-चाव से किया गया। धीरे-धीरे जब मैं पाँच वर्ष का हुआ, तब मेरे पठन-पाठन का उत्तम प्रबंध किया गया। संयोग से मेरे गुरु एक मनोवैज्ञानिक थे। उनके शिक्षण का ढङ्ग मुझ पर सदैव यही प्रभाव डाला करता था कि अमुक भावना ने ही अमुक घटना का ऐसा रूप दे डाला। ज्यों-ज्यों मैं मनुष्य की भावनाओं को समझने का आदी हुआ, त्यों-त्यों मुझे मनोविज्ञान सीखने का अधिक चस्का लगा।

इधर जिस समय मेरा शिक्षण जारी था, उस समय मेरे पिता के कार्यों का मुझ पर ऐसा असर पड़ रहा था जिससे

लड़कपन में ही कई लौकिक व्यवहारों के प्रति मेरे मन में भयङ्कर घृणा पैदा हो रही थी। वे थे मेरे पिता के अर्थ संचय करने के तरीक़े।

मेरे पिता एक ज़मींदार थे। किसानों को लूटना, तरह-तरह की यातनाओं द्वारा उन्हें पीड़ित करना, उनकी बहू-बेटियों की अस्मत को अपने कुत्सित भोगों की पिपासा शान्त करने के लिए कलंकित करना और उनके विद्रोही होने पर उनके घर द्वार को भस्म कर देना, उनका साधारण खेल था।

मेरी माँ, जो उनके इन कार्यों से सदैव घृणा करती थी, यथाशक्ति उनके इस व्यापार का रोकने की चेष्टा किया करती, पर बदले में उसे भी एक दिन एक नारी के पातिव्रत के रक्षण पर अपना जीवन बलिदान करना पड़ा। मेरी माता की लाश चुपचाप जला दी गई।

इस भेद को गिने-चुने व्यक्तियों को छोड़ या तो ईश्वर ही जानता था अथवा मैं ही। निर्दोष मातृ-हत्या ने मुझे अपने राक्षस पिता के विरुद्ध विद्रोह करने को उकसाया। उस समय मेरी आयु बारह वर्ष की थी।

मेरी जागीर में भी न जाने कितने ऐसे व्यक्ति थे जो मुझे भी घृणित दृष्टि से देखा करते थे। कितने ही यह भी कहते थे 'साँप का बच्चा है, समय पर यह भी उतना ही या उससे भयङ्कर होगा।'

अपने ऊपर चढ़ने वाले इस वृथा कलङ्क और मातृ-हत्या की प्रतिहिंसा ने मुझे अपने पिता की हत्या के षड्यन्त्र को

ओर अग्रसर किया। मैं स्वयं तो कुछ कर न सकता था, इसलिए मैं साधन बना और गाँव के कई व्यक्ति साधक।

बस देर क्या थी ? एक दिन रात्रि के समय जब मेरे पिता सो रहे थे; मैंने नौकरों की आँख बचा कर कुछ लोगों को गृह के अन्दर आने दिया। उन लोगों ने कुछ ही क्षणों में मेरे पिता को बोटियाँ बोटियाँ कर डालीं। क़ातिल लोग भाग गये। पुलिस ने बहुतेरी छान-बीन की, पर कुछ भी पता न लगा सकी।

इस कुकृत्य के बाद मैं उस सारी सम्पत्ति का अधीश्वर बना, किन्तु पापों के काले धब्बे तो मुझ पर भी चढ़ ही चुके थे। किशोरावस्था, एकाकी जीवन। मैं स्नेह पाने के लिए तड़प उठा, किन्तु प्यार करता कौन ? मेरे प्यार की दुनिया तो उजड़ चुकी थी। रिश्ते में जो अपने थे भी, उनमें से किसी को भी मुझसे अनुराग तो था नहीं ! हाँ, वे मेरी दौलत को हड़पने के लिए, बनावटी प्यार दिखाने का स्वाँग रचा करते थे। मुझ पर बीत रही थी, इसलिए मुझे सबके प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। मेरे लड़कपन के दिन घोर अशांति से बीतने लगे।

जिस दौलत को मेरे पिता ने कितने ही जुल्म और पाप के द्वारा कमाया था, उसका अधीश्वर बना रहना मुझे ठीक न जँचा। दौलत के प्रति भी मुझे घृणा हो गई। ज्यों-त्यों करके मैंने पाँच वर्ष बिताये, पर आगे उसी तरह जीवन व्यतीत करना असम्भव-सा हो गया।

एक दिन मैंने कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों को एक सभा की और अपने जागीरदार के पट्टे को उतार कर फेंक दिया। किसानों में मैंने सारी ज़मीन बाँट देने की व्यवस्था कर दी और रुपये-पैसे विभिन्न संस्थाओं को दान कर दिये।

फिर मैं अपनी जन्मभूमि से भगा। कुछ समय तक निरुद्देश्य इधर-उधर टकराता रहा। कई बार जीवन के अन्त कर देने की लालसा भी उत्पन्न हुई, पर मैं इसमें सफल न हो सका।

घूमते-घूमते मैं दौलतशाह की जागीर में आ पहुँचा। यहाँ भी ये ही दृश्य नज़र आने लगे जो मैंने अपने पिता के जीवन-काल में देखे थे। मुझे इस व्यवस्था के विरुद्ध लोगों को खड़ा करने का चस्का लगा। मैं दौलतशाह की जागीर के गाँव में, एक सन्तान एवं परिवारहीन वृद्ध मनुष्य का सगोत्री बन कर रहने लगा। बुड्ढे ने भी अपनी सेवा कराने के लालच से मेरा भेद किसी को नहीं बताया।

धीरे-धीरे मैंने जनता के बीच में प्रवेश किया। अन्याय-अनीति द्वारा उत्पन्न हुई परिस्थितियों को पढ़ता रहा और क्रम-क्रम से जनता को सुशिक्षित एवं संगठित करने के प्रयास में लगा रहा। एक दिन उस वृद्ध पुरुष की भी जीवन-लीला समाप्त हो गई। कहने के लिए मैं उसकी छोटी-सी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बन बैठा। मैंने अपने को पुनः अकेला पाया, अतः सामाजिक जीवन व्यतीत करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य बना।

मैं जनता के बीच में खड़े होकर छोटे-मोटे भाषण दिया करता और जनता का विश्वासपात्र बनने की भरसक चेष्टा करता। एक दिन मैं भाषण देने के अपराध में गिरफ्तार हुआ और बाद में निर्वासन की सज़ा दे दी गई।

इसके पश्चात् मैं लखनऊ जाकर रहने लगा और किसानों को शिक्षित बनाने का कार्य अपने हाथों लिया। यह सारी कथा मेरे पूर्व जीवन को एक बहुत ही छोटी कहानी है। इसके बतलाने के साथ मैं तुम्हें यह नहीं बता सका हूँ कि मेरी भावनाएँ कब कैसे रहती थीं। अब मैं इस ओर आता हूँ।

इस तमाम उलट-फेर के जीवन में—वसन्तिके !—मैंने एक ही व्यथा का अनुभव किया और वह थी मेरे एकाकी जीवन की कठोरता। प्रतिपल मैं अनुभव करता था और आज भी अनुभव करता हूँ कि बिना एक हृदय के सच्चे साथी के सारा जीवन एक उपहास और व्यङ्ग सा लगता है।

मैं उन दिनों अस्वस्थ हुआ और जलवायु परिवर्तन के हेतु इसी विन्ध्य की घाटी पर आ पहुँचा। क्या पता कि यहाँ तुम जैसी रमणी का साक्षात्कार होगा। मैं प्रायः प्रतिदिन इसी घाटी की ओर घूमने आने लगा, जहाँ मैंने प्रथम बार तुम्हें एक वनबाला के वेश में देखा।"

प्रकाश इतना कह कर चुप हो गया। वसन्तिका उसके जीवन की सारी पूर्व कथा को बड़े ध्यान से सुन रही थी। प्रकाश के चुप होते ही उसने प्रश्न किया—"फिर आगे क्या हुआ ?"

आगे ?"—प्रकाश एक प्रश्न-सूचक मुद्रा से वसान्तिका को देख कर बगलें झाँकने लगा।

. "हाँ, हाँ, आगे !"—वसन्तिका ने आतुरता से कहा।

"आगे जो कुछ वसन्तिका ! उसमें मेरी एक महान तृष्णा छिपी पड़ी है, पर जब जानना ही चाहती हो तो उसे भी सुनो—

"हाँ, तो जब मैंने तुम्हारा दर्शन प्रथम बार ही इस घाटी में किया तब मैंने तुम्हें एक अनिंद्य सुन्दरी तथा आदर्श नारी के रूप में देखा। संभवत तुम वह भी नहीं जानतीं कि मैंने कब, कहाँ से तुम्हें देखा था, पर यह बात सच है कि प्रति-दिन सन्ध्या के समय मैं छिप कर तुम्हें देखा करता था। तुम प्रायः झरने पर पानी लेने, फूल तोड़ने वा अन्य किसी कार्य से इस ओर आ जाया करती थीं।"

वसन्तिका ने प्रश्न किया—"तुमने मुझमें क्या देखा था ?"

"चरित्र एवं आचरण की पवित्रता, प्राकृतिक सौन्दर्य की आकर्षक झाँकी और पवित्र तपस्वी-जीवन का शृंगार।"

"और इतनी-सी बात पर तुम मेरी ओर आकर्षित हो गये ?"

"और चाहिये क्या था वसन्तिका ! मैंने बड़े बड़े शहरों में मदगर्वित सुन्दरियों को देखा था जो सुशिक्षित थीं, प्रिय-वादिनी थीं, स्नेह प्रदर्शन करने की कला में निपुण थीं, देखने में सुन्दरी थीं, नाज़ो-अन्दाज़ और हाव-भाव को बिखेरते हुए अपने चारों ओर मधुप प्रेमियों का खासा जमघट बनाये रखती थीं, पर उनका वह सलोनापन मुझे जँचा नहीं। मैंने

देखा—नारी अपने जिस पवित्र प्रथम गुण को लेकर सुन्दर बनी है—जिसे हया या शर्म कहते हैं, जो नारी का प्राकृतिक शृङ्गार है, वह जैसे उनके सम्पूर्ण सौंदर्य में कहीं अङ्कित भी नहीं। उनका सारा शृङ्गार बनावटी वेश भूषा पर ही निर्भर है। उनकी बेशर्म निगाहों में जैसे शर्म का शृंगार नारी की कमज़ोरी है। इतना ही नहीं, मैंने उन्हें लालुप भी देखा। वे अपनी प्रत्येक इन्द्रियों की गुलाम पाई गईं। कभी वे अपने शृङ्गार को आकर्षक बनाने के लिए अपने पुरुष की आय से अधिक व्यय करती हुई पाई गईं तो कभी चटोरे बच्चों की तरह चाट वालों की दुकानों पर मक्खियों की तरह भिनकती हुई चक्कर काटते देखी गईं। सौंदर्य नष्ट न होने देने को तृष्णा में कभी मातृत्व की उपेक्षा कर, बच्चे को बोतल द्वारा दूध पिलाते हुए नज़र आईं, तो कभी गृह-जीवन की पवित्र ज़िम्मेदारी को नारी की गुलामी की जंजीर बता कर पुरुष से कलह करते देखी गईं—यह आक्षेप सभी स्त्रियों के लिए नहीं, पर विशेषतः तो उन पर घटित होता है। ऐसा बहुत सी बातें हैं कि जिनके कारण मैंने नारी के सौंदर्य में वह आकर्षण नहीं देखा, जो पुरुष को पल भर अपनी ओर देखने के लिए व्यग्र कर देती है। ख़ैर, यह तो बातें अपनी रुचि पर निर्भर करती हैं, पर तुम्हारा साक्षात्कार मुझमें एक माया-सा भरने लगा। मैंने थोड़े दिनों में देखा—जैसे मैंने कोई भूल कर डाली है।

यह तो स्पष्ट ही था कि मैं सब कुछ खो चुका था। निरन्तर एकाकी जीवन की व्यथा के कारण मन कहीं अटके रहने को खोज में वितृष्ण रहता ही था। इसे तुम चाहे यौवन का पाप समझो या धर्म, मैं अपने को तुम्हारी ओर बढ़ने देने से न रोक सका।

एक दिन जब मैं इन्हीं कड़ियों की आवर्ती झरने पर बैठा हुआ कर रहा था, और तुम सहसा वहाँ आकर, बड़े ही सद्व्यवहार के साथ मुझसे एक के बाद दूसरे प्रश्न करने लगीं तब मुझे भय हुआ—जैसे कहीं मैं अपनी कमज़ोरी तुम्हारे समक्ष व्यक्त न कर दूँ और उसके बाद हृदय पर पत्थर रख कर कर्तव्य की महान् सेवा के लिए मैं वापस लौटा। कर्तव्य के कठोर बन्धन में जकड़ कर—मैंने सोचा था—सब कुछ भुला दूँगा, पर आज जब कि एक लम्बा अरसा गुज़र चुका है, मैं देखता हूँ, मैंने जीवन में एक ऐसी तृष्णा उत्पन्न करली है जो हृदय की गहराई तक अपना घर कर चुकी है। मैं व्यक्त करूँ या चुप रहूँ, पर इन कड़ियों को जिस तरह तुम पत्थर पर अमिट देख रही हो, उसी तरह मेरे व्यथित जीवन की अमिट परिभाषा बन कर मेरे श्वास-प्रश्वास में झंकृत होती रहती है। यही वे कड़ियाँ हैं, जिन्हें मैंने किसी गहरी निराशा की भावुकता में इस पत्थर पर लिख मारा था।"

प्रकाश चुप हो गया। वसन्तिका क्षण भर कुछ सोचती रही और पश्चात् उसने कहा—'आग तो दोनों हृदयों में समान जल रही है। जिस वसन्तिका की तृष्णा ने तुम्हारे जीवन को उद्विग्न बना रक्खा है, वह तो न जाने कब से तुम्हारे नाम की माला जप रही है। बोलो, क्या कहते हो?"

"क्या कहता हूँ?"—प्रकाश की आवाज़ भर्रा उठी। वह एक गम्भीर चिन्ता में निमग्न हो गया।

"मेरी बातों का जवाब दो।"—वसन्तिका ने बाधा दी—देखो! मेरा सर्वस्व तुम्हारे चरणों में निछावर है। तुम जैसे चाहो मेरे जीवन का उपाय करो।"

"यही तो काँटा है, वसन्तिका ! जिसे शायद तुम उतनी ही गंभीरता से नहीं सोचती जितना कि मैं। आज तुम्हारा सारा जीवन एक व्यक्ति के उपयोग में नहीं लाया जा सकता और ऐसा करना एक भयङ्कर पाप होगा। आज तुम समाज के लाखों प्राणियों की सेविका हो। मैं इस बात का अनुभव एक लम्बे समय से करता आया हूँ। इसीलिए अप्राप्य की भाँति तुम्हारी कल्पना करके, एक वियोगी की तरह मैंने सदैव तुम्हें अपने अनन्तर में ढूँढ़ा है। मैं अपने सुख के लिए कभी यह न चाहूँगा कि तुम केवल मेरी होकर रहो।"

"तो क्या समर्पित हृदय लौटा दोगे ?"

"नहीं, लौटाने का यहाँ प्रश्न ही नहीं है। मैं तो तुम्हारे इस सुन्दर हृदय की झांकी लाखों प्राणों में देखूँगा। तुम जितना मुझे प्यार करती हो उससे भी अधिक ममता उड़ेल कर तुम्हें उनकी बन कर रहना होगा जिनको एक बहुत बड़ी आवश्यकता तुम बन गई हो। मुझे तुम परदेशी समझो न ! इसी नाम से तो तुमने पहले भी सम्बोधन किया था।"

"तो क्या करना होगा ?"

"अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को, अपनी पीड़ा को, अपने अन्तस्तल के कोने में दफ़ना देना होगा और जीवन के हर एक क्षण में दूसरों के लिए ही जीवन धारण रखना होगा। मैंने अपनी प्रेम-पीड़ा से भी अधिक भयानक गरीबी के पाप की पीड़ा का मर्म समझा है। इसी पाप ने आज हमें निर्बल एवं निर्वीर्य बना कर सदियों से सत्ताधारियों की गुलामी

करने के लिए मजबूर कर रक्खा है। मैं तुमसे जो कुछ चाहता हूँ, वह यही कि जैसे बने— इस सत्ता को इतना छिन्न-भिन्न करो कि गरीबी का पाप कट जाय। आज पिया पीतम के बाहुपाश में आबद्ध होकर प्रेम से सोते रहने का समय नहीं। हमें तुम्हें मिलकर युगान्तर दिखलाना है, नवीन सृष्टि की स्थापना करनी है, युग-द्रष्टा बनकर भूले-भटकों को आज को राह बतानी है। बोलो वसन्तिके! एकान्त प्रणय का आज कितना बेसुरा राग है!"

वसन्तिका देवता के वरदान की भाँति प्रकाश की बलि-दानमयी आकांक्षा को वेदमंत्र सी सुनती रही। उसने केवल इतना ही कहा—"आज से मैं अपने को तुम्हारे हाथों बेच चुकी। जो तुम्हारे जीवन के सिद्धान्त होंगे उनकी सिद्धि में खोजूँगी!"

समय काफी हो चुका था, इसलिए दोनों ही घूम कर लौट आये।

× × ×

रात्रि की नीरवता में संन्यासी, वसन्तिका और उसकी सखी अधिराजा-ये तीनों एक कोठरी में बैठे हुए एक समस्या पर विचार कर रहे थे।

वसन्तिका कह रही थी—"बाबा। मुझे सेनिटोरियम के कार्य से अवकाश ग्रहण करना ही होगा। अधिराजा तथा अन्य नर्सें सेनिटोरियम का कार्य भली भाँति चला ही लेंगी। यदि इनके अलावा भी किसी अन्य की आवश्यकता हुई तो योग्य व्यक्तियों की कमी नहीं. किन्तु प्रकाश और आपने जिस भावी कार्य-क्रम के चलाने का मन्तव्य स्थित किया

है, उसका सफलीभूत होना केवल साधुवाद से संभव नहीं। साम, दाम, दण्ड, भेद से जैसे भी संभव होगा, करना होगा। कुटिल नीतिज्ञ चाणक्य की तरह बन कर ही, उस उद्देश्य में आप सफलीभूत हो सकेंगे।"

संन्यासी कह रहा था—'तू नर्तकी बनकर समाज के सामने अपने शृंगार का प्रदर्शन करेगी, यह बात मेरी समझ में ठीक नहीं बैठती।"

"तो कार्य की सफलता भी असंभव ही है!"—कह कर वसन्तिका चुप हो गई।

संन्यासी कई दिनों तक उक्त प्रश्न को सोचता रहा और अन्त में एक दिन वसन्तिका को बुला कर कहने लगा—"मैं तेरी राय से सहमत हूँ बेटा! तू जा! तेरा अस्तित्व ही कितना बड़ा। यदि तू एक कुर्बानी करके भी उस समस्या का हल निकाल सकी जिसके हल करने में बड़े-बड़े नेता असफल रहे हैं, तो मैं समझूँगा कि मानवता के प्रति तूने अपने ऋण को अदा कर दिया।"

संन्यासी की बात सुन कर वसन्तिका का बोझ हलका हो गया। वह प्रकाश के साथ नगर जाने को उद्यत हो गई। उपचारशाला की सारी जिम्मेदारी संन्यासी तथा अधिराजा के सिर पर डाल दी गई। सेनिटोरियम से प्रकाश, वसन्तिका और बुधुआ तीनों चल पड़े और नगर में आ पहुँचे।

वसन्तिका जिस कार्य के लिए आई थी, उसमें अभी एक माह की देरी थी। बात यह थी कि दौलतशाह के राजकुमार पैदा हुआ था। इसी खुशी में उन्होंने अपने नरेश-मित्रों को दावत दी थी। इस अवसर पर भारत के प्रमुख नगरों से

नर्तकियाँ बुलाई गई थीं। इसका विज्ञापन भी खूब निकला था। नर्तन की कला को प्रदर्शित करने के लिए एक मनोमोहक आपेरा भवन का निर्माण किया गया था। वसन्तिका ने भी नृत्य-कला को प्रदर्शित करने की दरख्वास्त की थी। शर्त यह थी कि उसके साथ सद्व्यहार किया जा; क्योंकि वह द्रव्योपार्जन के निमित्त नहीं, बल्कि कला का प्रदर्शन करने के लिए इस सुअवसर पर आगे आई थी।

यद्यपि वसन्तिका की प्रार्थना सादर स्वीकार की गई थी, तब भी अभी समय तो दूर ही था। सब के अलग रहते हुए वह प्रतिदिन नर्तन का दिन-रात अभ्यास करती रहती थी। धीरे-धीरे समय व्यतीत हो गया और उसकी अग्नि-परीक्षा का दिन भी आ पहुँचा।

वसन्तिका ने दर्शकों की गैलरी में बैठने का सम्मानप्रद स्थान प्रकाश के लिए रिज़र्व करा लिया था। उस दिन वह प्रकाश को लिये आपेरा भवन के द्वार पर पहुँची। आज केवल उसी का नृत्य था। वह शृंगार-ग्रह में चली गई। प्रकाश अपने स्थान पर जा बैठा।

दर्शकों की गैलरी खचाखच भरी हुई थी। आमंत्रित नरेशगण बड़ी उत्सुकता से रंगमंच पर इस नई नर्तकी की प्रतीक्षा कर रहे थे। सुगन्धित द्रव्यों से सारा भवन महक रहा था। रंगीन मदिरा की मायावी मस्ती हर एक चेहरे पर झूम रही थी। रंग बिरंगी रोशनी से एक मनमोहक प्रकाश फैला हुआ था। कितने ही अपनी बग़लों में बैठाये हुए,

अपने-अपने माशूकों के नाज़ो-अन्दाज़ में मस्त थे। एक अजीब समा था।

एकाएक वह समय आ गया। चारों ओर की रोशनी बुझा दी गई। आपेरा भवन में एक सन्नाटा-सा छा गया। सब की आँखें रंग-मञ्च पर जा रुकीं और वहीं किसी को ढूँढ़ने लगीं। पट परिवर्तन हुआ, रङ्ग-मञ्च पर वसन्तिका दीख पड़ी मोहिनी के वेश में। आज वह एक मोहिनी नर्तन करने जा रही थी।

विद्युत की हल्की सी निलिभ प्रभा वसन्तिका के रूप-राशि पर पड़ रही थी। वह अग्नि-शिखा सी प्रज्वलित रूप राशि बटोरे चंचल झोंके खा रही थी। ज्ञात होता था जैसे चन्द्रदेव की रजत ज्योत्स्ना आकाश के बाहर निकल कर झाँक रही हो। पल भर के लिए रूप-गर्विता नारी-सी खड़ी होकर ज्यों ही वसन्तिका ने अपने अधमुँदे मादक नेत्र खोले, हर व्यक्ति ने अनुभव किया जैसे उसका हृदय उसके पहलू में नहीं है।

बस, इसके पश्चात् वसन्तिका ने नृत्य प्रारंभ किया। वह अपने अङ्ग-अङ्ग की थिरकन से माया बिखेरने लगी। प्रत्येक भाव प्रदर्शन में, वह दर्शकों की भावना को अनुराग द्वारा अतिरञ्जित कर रही थी। प्रत्येक व्यक्ति की आँखें निर्निमेष होकर वसन्तिका को देख रही थीं। वसन्तिका सब के हृदयों पर अपना अधिकार जमाये जा रही थी। दौलतशाह उत्सुकता और आकुलता के साथ वसन्तिका का नृत्य देख रहे थे।

निरन्तर तीन घण्टे तक वसन्तिका रङ्ग-मञ्च पर नर्तन करती रही। उसने नारी की उस मोहिनी एवं मायावी शक्ति

का प्रदर्शन ऐसे कलात्मक ढंग से किया कि जिसने प्रत्येक प्राणों में एक अभाव फूँक दिया। नारी के अंग-अंग के सौन्दर्य तथा माया को लोगों पर ऐसी छाप पड़ा कि उनका दुर्दमनीय कठोर पुरुष-बल एक आघात से मोम-सा पिघल गया। प्राण स्पन्दनहीन होने लगे। एक मूर्च्छना की लहर सी चारों ओर दौड़ गई। वसन्तिका के अनिन्द्य सौंदर्य ने सब को विस्मय-विमुग्ध तथा पागल बना दिया। पल भर पश्चात् पटाक्षेप हो गया। वसन्तिका माया-सी छिप गई। जो लोग हँसते-हँसते आये थे, वे अपने पहलू में दर्द दिल छिपाये जा रहे थे।

दूसरे दिन—

वसन्तिका के पास उपहारों और प्रेम पत्रों का ढेर लग गया। उसने बड़ा ही चतुरतापूर्वक उपहारों को अस्वीकार कर दिया जो लोग उससे मिलने की आकांक्षा प्रकट कर रहे थे, उन्हें भी उसने शिष्टतापूर्वक यही उत्तर दिया कि नारी के सम्मान की बात को ध्यान में रखते हुए, वह किसी से मिलने में असमर्थ है, पर एक बात जो उसने की, उसने लोगों की भावनाओं को उसके प्रति श्रद्धा में परिवर्तन कर दिया।

उसने उसी दिन के दैनिक पत्र में अपनी ओर से एक अपील निकाली और उन लोगों को कोसते हुए, जिन्होंने नृत्य-कला की भेंट में वसन्तिका को व्यक्तिगत पत्र लिख कर, स्थान-स्थान पर असम्मानप्रद लोलुपता का चित्रण किया था, यह सलाह दी कि वे सब लोग नारी का सम्मान करें। जिन लोगों ने केवल लोलुपता के कारण ही उसको भेंट में पानी की तरह पैसे बहाना उचित समझा था, उनसे वसन्तिका ने प्रार्थना की कि वे उन पैसों को सार्वजनिक संस्थाओं को दान कर दें। जो लोग उसे प्रसन्न करना चाहते हों, उनसे उसने

याचना की कि वह एक सामाजिक सेविका है, उसका कर्तव्य समाज की सेवा है, लोग उसकी भावनाओं को लेकर उसके कार्य में सहायता दें।

कहना नहीं होगा कि इस अपील का प्रभाव बहुत ही उत्तम पड़ा। सेनिटोरियम, पुस्तकालय, विधवाश्रम, प्रजा-मण्डल आदि संस्थाओं को दान में एक भारी रक़म मिली और संस्थाओं की एक बड़ी कठिनता दूर हो गई।

इधर वसन्तिका प्रकाश के साथ मिलकर प्रजा-मण्डल के कार्य में व्यस्त हो गई। उधर दौलतशाह ने जब सुना कि प्रजा-मण्डल का निरीक्षण वसन्तिका कर रही है और वही अध्यक्षा है, तो बहुत सी बातों को, जो उसके द्वारा सम्पादित होती थीं, मानने लगा। सचमुच वसन्तिका के अध्यक्षा पद में आरूढ़ होने से प्रजा-मण्डल को बहुत-से व्यापक अधिकार मिलने लगे। दौलतशाह और वसन्तिका के बीच प्रायः बहुत से विषयों पर सलाह-मशविरा भी होने लगा। वे एक दूसरे के विचारों द्वारा जनता के अनेक अधिकारों के संरक्षण का मार्ग खोज रहे थे। प्रायः दोनों में भेंट-मुलाकात भी होने लगी।

वसन्तिका की रूप-ज्योति में दौलतशाह, पहले ही झुलसे हुए पतङ्गे बन चुके थे। अब उसका साक्षात् उन्हें भस्म करने लगा। वह अपनी आग को न रोक सके। एक दिन उन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा—"तुम सत्ता की खोज में जनता की लीडर बनी हुई कहाँ भटकती हो! आओ मेरी होकर रहो। मैं अपना किरीट तुम्हारे चरणों में रख दूँगा।"

"क्षमा करो महाराज ! मैं अपना समर्पण एक बार कर चुकी हूँ। आपकी यह लालसा मेरे लिए कलङ्क बन जायगी।"

'लेकिन वसन्तिका ! तुम नर्तकी हो, तुमने मेरी वासना को उकसाया है। मैं जल रहा हूँ। मेरी आज्ञा अकाट्य है। तुम्हें मेरी इच्छा पूरी करनी होगी। जाओ—रात्रि को राज-महल में मिलना।"

दौलतशाह वसन्तिका को वहीं बैठे छोड़ कर चले गये। वसन्तिका भी चुपचाप दाँत पीसती हुई अपने निवास-स्थान पर पहुँची। प्रकाश वसन्तिका की प्रतीक्षा ही कर रहा था।

वसन्तिका ने जो कुछ हुआ था आते ही प्रकाश से कह कह सुनाया। प्रकाश पल भर के लिए घटना की भयंकरता को सोचने लगा। वसन्तिका ने बाधा दी। उसने कहा—"चिंता मत करो। स्नान करने के पश्चात् मैं अपना निश्चय बताऊँगी। तुम मेरी प्रतीक्षा करो।"

वसन्तिका ने खूब स्नान किया। अङ्गरागों से उसने समस्त शरीर धोया और एक केसरिया वस्त्र पहिने वह प्रकाश के सम्मुख आ खड़ी हुई।

"जानते हो !"—आते ही उसने सरोष कहा—"दौलत-शाह ने मेरे नारीत्व का अपमान किया है। उसने मुझे नर्तकी समझा है, मुझमें उसने मोहिनी देखी है, नृत्य को उसने कलुषित भावना से देखा है, इन सब का मैं बदला लूँगी और उसे बता दूँगी कि नारी-असम्मान का जो उसने गुरु-तर अपराध किया है, उसी का बदला लेने के लिए आज मैं अपने खुले केश की सौगंध खाकर राजस्व मूलोच्छेद करने

की प्रतिज्ञा करतो हूँ—दौलतशाह ने संभवतः नारी का भैरवी रूप अब तक नहीं देखा, मैं बताऊँगी, क्रांति मचा दूँगो।"

ब्रह्मचारिणो वसन्तिका के शब्दों में दृढ़ता थो। वह निर्भय सिंह को-सी प्रकाश के समक्ष खड़ी, उससे बोली—"राज-महल में गुप्त रूप से सूचना करा दो। मैं रात्रि में नौ बजे महाराज से मिलने जाऊँगी।"

वसन्तिका वहाँ से चुपचाप अपने कमरे में चली गई। वहाँ जाकर वह अपना शृङ्गार करने लगी। प्रकाश ने महाराज के पास सूचना भिजवा दी। वसन्तिका ने केसरिया परिधान के बीच अपने को फूलों से सजाया। खुले हुए केश हवा के झोंके खा-खा कर लहरा रहे थे।

क्रम-क्रम से समय व्यतीत हो गया। वसन्तिका वनबाला के वेश में महाराज से मिलने चली। महाराज रंग-भवन में अकेले ही उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

"अप्सरा! तुम आ गईं!" महाराज ने वसन्तिका के कमरे में प्रवेश करते ही कहा।

"महाराज!"

वसन्तिका भुवन-मोहनी-सो दौलतशाह के सम्मुख खड़ी हो गई।

"मैं तुमसे स्नेह की भिक्षा माँगता हूँ! सुन्दरी! सम्राट बन कर नहीं; बल्कि अकिञ्चन की भावना के साथ। मेरे रंग-महल में अपनी रूपश्री भर दो! रूप की रानी!"

वसन्तिका ने एक स्मित-मुस्कान के साथ दौलतशाह के गले में बाहें डाल दीं। दौलतशाह अपने भाग्य पर फूले न समाये।

वसन्तिका बड़े भोलेपन के साथ उनसे हटकर दूर खड़ी हो गई—"महाराज !" उसने कहा।

"कहो !"

"मैं चाहती हूँ कि आज आपका रंगमहल इन्द्र को रंग-शाला बन जाय। आज मैं भी बेहोश होना चाहती हूँ, आपको भी बेहोश बना देनी चाहती हूँ। पुरुष की काम-शय्या पर क़दम रखने का मेरा भी आज पहला दिन है। अपनी इठलाती मचलती यौवन की चंचल लालसाओं को मैंने वर्षों से रोक रक्खा था। आज की इस मधुर वेली में—मैं चाहती हूँ—जी भर कर वर्षों की ललकती हुई तृष्णा को बुझाऊँ महाराज !"

"कहो वसन्तिके !"

'मैं साक़ी बनती हूँ।'

तो लाओ पिलाओ। तुम्हारे हाथों से पिऊँगा। और इतनी पिऊँगा, जितना तुम पिला सकोगी।"

गज-गामिनी वसन्तिका लहरों सी चंचल बनकर सुरा की सुराही लेकर खड़ी हो गई। एक हाथ में स्वर्ण-पात्र था—एक में सुराही।

दौलतशाह आकुल हो उठे—'जल्दी करो वसन्तिका ! प्यास बढ़ रही है, रात्रि ही भर तो है, अभी बहुत पीना है.....'

वसन्तिका ने छलकता हुआ अँगूरी प्याला दौलतशाह के होठों से लगा दिया।

दौलतशाह मसनद पर बैठे हुए थे। वसन्तिका उनकी बग़ल में खड़ी पिलाने का उपक्रम कर रही थी।

"ऐसे नहीं !"—प्याले को वसन्तिका की कलाई पकड़ कर दूर हटाते हुए बोले—'पहले इस प्याले की मदीली मस्ती को तुम्हारे होंठ चूम ले, तब मैं पागल बनूँगा।"

वसन्तिका ने प्याला खाली कर दिया। उसने दूसरा भरा—गटगट नीचे उतार गई—तीसरा भरा—उसे भी वह सोख ही जाने वाली थी कि दौलतशाह ने रोकते हुए कहा—'अब मैं पिऊँगा। तुम पिलाओ।"

दौलतशाह छकने लगे। लबालब सागरों के दौर चलने लगे। हर प्याले के अन्त में वसन्तिका पूछती—"बस ?"

"अभी तो प्यास बाकी है ! और पिलाओ।"

हर प्याले की एक घूँट वसन्तिका अपने गले के नीचे उतार देती। अवशेष भाग दौलतशाह डकार जाते।

जीवन में प्रथम अवसर था—वसन्तिका ने मधु-आसव की प्यालियाँ सोखी थीं। उसे सब कुछ अद्भुत दीख पड़ता था। वह रात्रि कितनी मदीली थी—कितनी रंग-विरंगी। आसव का सारा मद वसन्तिका के गुलाबी नेत्रों में छलक रहा था। यौवन के भार से—आसव की मादकता से वसन्तिका के अङ्ग-अङ्ग टूट रहे थे। अँगड़ाइयाँ दौलतशाह की उद्दाम वासना पर सितम ढा रही थीं।

दौलतशाह पीते ही जा रहे थे। वसन्तिका भी पीती और पिलाती ही जा रही थी। सारा कमरा सुगन्धित द्रव्यों और आसव की मधु-मादकता से गमक रहा था। मस्तिष्क गन्धों से भिन्ना उठा था।

दौलतशाह के अङ्ग-अङ्ग ढीले पड़ चुके थे। बेख़बरी उन पर अपना साया डालना शुरू कर चुकी थी। वह मसनद के सहारे इधर-उधर लुढ़क रहे थे। वसन्तिका उन्हें पिला पिला कर कई बोतलें ख़ाली कर चुकी थी।

दौलतशाह लड़खड़ाती ज़बान से बोले—"आज पुनः नृत्य दिखलाओ वसन्तिका! मुँह माँगा पुरस्कार दूँगा।"

"जो आज्ञा, महाराज!"

वसन्तिका स्वयं मदमस्त थी। वह उर्वशी-सी त्रैलोक्य का सौन्दर्य अपने आप में भरे, उस रंगशाला में थिरकने लगी नाचने लगी। वह न जाने कब तक नाची। दौलतशाह लड़खड़ाते पाँवों से उठे। वसन्तिका के गले में जाकर उन्होंने बाहें डाल दीं—"बस करो वसन्तिके! मैं तुमसे आज की रात्रि प्रणय का दान माँगता हूँ, बोलो, स्वीकार है?"

वसन्तिका ने मटक कर कहा—'स्वीकार तो है, पर ऐसे नहीं लाइये! अपने दिये हुए वचनों के अनुकूल मुझे पुरस्कार दीजिये।"

"अच्छा तो कहो न! क्या चाहती हो?"

"मैं जो चाहती हूँ वह इसी काग़ज पर लिखा हुआ है।"—वसन्तिका ने एक पत्र दौलतशाह के हाथ में दे दिया।

पत्र के ऊपर मोटे-मोटे अक्षरों में हेडिंग लिखी हुई थी—"प्रजा-मण्डल की माँगों पर, महाराज द्वारा प्रदानित किया हुआ एक अमूल्य दान!"

दौलतशाह बेहोशी में थे ही. बड़ी कठिनता से उन्होंने इतने अक्षर पढ़े थे और उस समय तो उन्हें और ही सुरूर सवार था अतः उन्होंने समझा वसन्तिका प्रजा-मण्डल के हेतु दान माँग रही है, अतः वह बोले—"मैं इस दान-पत्र पर हस्ताक्षर कर देता हूँ, कल प्रभात में तुम राज्य कोष से अपनी इच्छा अनुकूल धन ले लेना।"

बेपरवाही से दौलतशाह ने अपने हस्ताक्षर कर दिये। वसन्तिका ने दान-पत्र को सावधानी से अपने वस्त्रों में छिपाते हुए कहा—'महाराज! अभी और पीजिए। अभी तो बहुत समय पड़ा है।"

"लाओ तो फिर। मैं कब हटने वाला हूँ!"

वसन्तिका ने पुनः रंग चढ़ाना शुरू कर दिया। दौलतशाह में क्षमता कहाँ थी कि एक मोहिनी के साथ शबे-वस्ल का सरो-सामान मुहय्या करके उसके आग्रह को टाल दें, अस्तु, वसन्तिका ने पिलाते-पिलाते बेहोश कर दिया। हतभागे प्रेमी की तरह, दौलतशाह के वस्ल के सारे अरमान दिल के दिल ही में तड़पते रह गये। वसन्तिका ने बेहोश दौलतशाह के मस्तक पर दो ठोकरें मारते हुए बुदबुदा कर कहा—"शैतान! मुझे अपनी बग़ल में सुलाना आसान नहीं। मैं मोहनी विष-कन्या हूँ। तू मेरे एक ही प्रणय-अभिनय को देख कर जर्जरित हो जायगा। एक ही चुम्बन से तेरी वासनामयी काया भस्म हो जायगी!"

दौलतशाह को वहीं सोता छोड़ कर वसन्तिका रङ्गमहल के बाहर निकली। बाहर प्रहरी तथा दरबान ऊँघ रहे थे।

वसन्तिका ने द्वारपाल को जगाते हुए कहा—"महाराज सुरा की मादकता में बेखबर हैं। उनकी देख-भाल करना। प्रभात होने को है। मैं जाती हूँ।"

वसन्तिका उस नीरव रात्रि में क़दम बढ़ाती हुई प्रकाश के शयनागार में पहुँची! उसने प्रकाश को शीघ्र जगाया। प्रकाश, मदमस्त फूलों के भार से लदी हुई वसन्तिका को देख कर आश्चर्य-चकित रह गया।

वसन्तिका बोली—"मुझे घूरो मत।"—उसके स्वर में जैसे शासन था—"जल्दी करो! रातोरात इस जागीर की सीमा के बाहर हो जाना है।"

प्रकाश परिस्थिति की गम्भीरता को समझ गया। उसने कहा—'यहीं ठहरो? मैं टैक्सी लेकर आता हूँ।"

आधे घण्टे पश्चात् सब कुछ ठीक हो गया। उस नीरव रात्रि में वसन्तिका और प्रकाश सरसराती हुई कार में भाग चले। प्रकाश बड़े पशोपेश में था कि वसन्तिका क्या करने जा रही है। इधर वसन्तिका अपने भावी कार्य क्रम की बात सोच रही थी। दोनों चुप थे।

× × ×

प्रकाश और वसन्तिका कितनी ही कापी देश के प्रत्येक प्रमुख पत्रों को उस दान-पत्र की भेज रहे थे, जिसे उस दिन वसन्तिका ने दौलतशाह के हस्ताक्षर कराने के बाद प्राप्त किया था। उसकी कापी ब्रिटिश गवर्नमेंट के पास भी भेज दी

गई थी। इधर दूसरे दिन वसन्तिका के एकाएक अदृश्य हो जाने से दौलतशाह बड़ी चिंता में थे। रह रहकर उन्हें आशंका हो रही थी कि कहीं वसन्तिका एक मोहनी के वेश में उनसे मिलकर, उनके सर्वनाश करने में तो नहीं जुट गई? उन्हें अपनी बेवकूफी पर अपने आप क्रोध आ रहा था। शराब की बेहोशी में जिस दान पत्र पर उन्होंने हस्ताक्षर किया था, वह वास्तव में था क्या? दान-पत्र ही था या और कुछ। उनके हस्ताक्षर की एक बहुत बड़ी क़ीमत थी।

उनके खुफिया चारों ओर वसन्तिका की खोज में घूम रहे थे और वह क्रोध से वसन्तिका पर दाँत किटकिटा रहे थे। वसन्तिका ने उन्हें जितना बेवकूफ बनाया था, वैसा उल्लू बनने का मौका उनकी ज़िन्दगी में कभी न आया था। उनका क़िस्सा था "न वस्ले यार हुआ और न आशियाँ ही रहा।"

वसन्तिका का, लाख सर पटकने पर भी कोई पता न लगा। दौलतशाह तीन दिन से बड़े बेचैन—बहुत ही व्यग्र थे। उनके मुँह पर मुर्दनी छाई थी। अभी-अभी सवेरा हुआ था। वह अपने शयनागार से निकल कर अँगड़ाइयों द्वारा अपना शरीर तोड़ ही रहे थे कि सामने से उनके आफिस का चपरासी एक दैनिक पत्र लिये हुए आफिस-टेबिल पर सजाने जा रहा था। उचटती हुई उनकी दृष्टि प्रथम पेज पर ही पड़ी। बड़े-बड़े मोटे अक्षरों की हेडिङ्ग में पहली लाइन छपी हुई थी—

"महाराज दौलतशाह का अद्वितीय दान!"

वे अपना नाम देख कर चकरा गये। विस्फारित नेत्रों से देखते हुए उन्होंने चपरासी से पत्र माँगा। इधर उनके मन

में प्रश्न हुआ - मैंने दान तो किसी को दिया ही नहीं। हो न हो, मायाविनी वसन्तिका की यह सब चाल हो। भेद खुलते देर न लगी। चपरासी ने पत्र दौलतशाह के हाथ में लाकर दे दिया। वे बड़ी शीघ्रता से पढ़ने लगे—

"महाराज दौलतशाह का अद्वितीय दान !

महाराज ने प्रजा-मण्डल की माँग स्वीकार कर ली !!

प्रजा-मण्डल की उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की माँग पर महाराज ने अपनी स्वीकृति दे दी। प्रस्तावों पर स्वीकृति के हस्ताक्षर भी हो गये।"

दौलतशाह के पाँवों तले की भूमि जैसे खिसकने लगी। वह बड़ी बेचैनी के साथ सविस्तार समाचार पढ़ने लगे। उसका सारांश यह था—"मेरी जागीर के प्रजा-मंडल ने अपने वार्षिक अधिवेशन पर इस वर्ष जिस प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन की माँग की थी, उस पर मैंने गंभीरता-पूर्वक विचार किया है। मैं भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अब वह समय आ गया है जब शासन-विधान का निर्माण प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा हो और उसमें हर एक बहु संख्यक एवं अल्प-संख्यक दलों के हितों का संरक्षण हो और इसलिए मैं प्रजा के प्रतिनिधियों की एक कौन्सिल निर्माण करने की आज्ञा देता हूँ। इस कौन्सिल में—मेरे चुने हुए ही नहीं, बल्कि प्रजा के पृथक पृथक दलों के प्रतिनिधि शामिल होंगे। मैं आज ही से इसका श्रीगणेश देखना चाहता हूँ।

—दौलतशाह।"

इसके पश्चात् उनकी दृष्टि सम्पादकीय टिप्पणी पर पड़ी जिसमें उन्हें समय को पहचानते हुए कार्य करने की क्षमता पर, युग-द्रष्टा की उपाधि दी गई थी।

सारा षड्यंत्र दौलतशाह की समझ में आ गया। अब उन्हें ज्ञात हुआ कि वसन्तिका ने जिस पत्र पर उनके हस्ताक्षर कराये थे, उसकी हेडिङ्ग तो दौलतशाह को बेवकूफ़ बनाने की एक कला थी। वास्तव में वह उनकी ओर से लिखाया गया एक आज्ञा-पत्र सिद्ध हुआ, जो प्रजा-मण्डल की माँगों से सम्बन्ध रखता था। उसकी प्रत्येक शब्दावलियाँ एक राजकीय घोषणा सिद्ध हो चुकी थीं।

दौलतशाह ने घृणा और क्रोध से पत्र को एक ओर फेंक दिया और एक पराजित हृदय लिये हुए स्नानागार की ओर चले गये।

कुछ घण्टे पश्चात्, जब वह शौचादि से निवृत्त होकर अपनी सीट में आ बैठे तो देखा—ढेर के ढेर बधाइयों के तार टेबिल पर पड़े हैं। वह उठ कर भुनभुनाते हुए चले गये—"उफ़! मायाविनी ने सब कुछ लूट लिया, इसने मुझे कहीं का न रक्खा। मैं देखूँगा।"

दौलतशाह एकान्त कमरे में जाकर बैठ गये। वह सोचने लगे—जो कुछ हो चुका, उससे प्रत्यक्ष में तो अपना यश ही चारों ओर फैला है। यदि घटना की वास्तविकता पर जाता हूँ, तो सबसे बड़ा दोष मेरा ही है। यदि सत्य की व्याख्या करता हूँ तो दुनिया मुझ पर ही थूकने वाली है!

चुप रह जाना ही उचित है, ऐसा सोचकर दौलतशाह मन मार कर रह गए। दौलतशाह में एक बात की बड़ी

विशेषता था। वह यह कि जब उन्हें स्वभावतः हँसना चाहिये, उस समय यदि उनके हँसने का प्रभाव उनके चारों ओर के वातावरण पर बुरा पड़ता था, तो वह रोने में मात कर जाते थे। इसी तरह जहाँ उन्हें स्वभावतः रोना चाहिए वहाँ वह प्रसन्नता की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करते थे। इस समय भी वह अपने एकान्त कमरे में एक दर्पण के सामने बैठे, अपने मनोभावों को छिपाते हुए, प्रसन्नता को अपने चेहरे पर पोत रहे थे।

जब वह अपनी कला में सफल हो चुके, तब. उन्होंने अपने प्राइवेट सेक्रेटरी को बुलाया और आज्ञा दी कि प्रजा-मण्डल से उस आज्ञा-पत्र की कापी लेकर रिकार्ड में रक्खी जाय, जिसे उन्होंने प्रजा-मण्डल की माँगों पर उदारतापूर्वक स्वीकार किया है।

इधर प्रजा-मण्डल का कार्य बड़े उग्र रूप से चलने लगा। जगह जगह पर सभाएँ होने लगीं। प्रजा अपने प्रतिनिधि चुनने लगी। प्रतिनिधियों की एक सख्या, जो सर्व दल के हितों का संरक्षण कर सकती थी, दौलतशाह के पास भेजी गई। दौलत-शाह ने उन्हीं प्रतिनिधियों द्वारा एक कौन्सिल बनाये जाने की घोषणा की और साथ ही कौंसिल का नवीन शासन-विधान निर्माण करने का स्वतंत्रतापूर्वक आज्ञा दे दी।

दौलतशाह जो प्रजा को भक्षक के रूप में दिखलाई पड़ते थे, वे प्रजा को रक्षक समझ पड़ने लगे। सारी प्रजा में दौलतशाह के प्रति पूज्य भावनाएँ पैदा हो गईं। प्रजा के हृदय में अपने सम्मान की नींव पड़ते देख दौलतशाह को भी सुख ही हुआ।

दौलतशाह थे बड़े विद्वान्। क्रान्तिकारी समय के उलट-फेर को वह अच्छी तरह समझ रहे थे। उन्होंने यह सोच कर संतोष कर लिया कि यदि नवीन शासन विधान में राजा के असीम अधिकार न रहेंगे। तो भी उससे कोई हानि नहीं। राज-पद की गुरुता का अस्तित्व तो रहेगा।

इधर प्रकाश और वसन्तिका भी लौट कर अपने-अपने कार्यों में जुट गये! वसन्तिका को नारी-सुधार कार्य दिया गया। वह अहर्निश समाज में नारी का स्थान समुन्नत बनाये रखने की कोशिश में लग गई। कभी-कभी उसे अपने सेनिटोरियम के निरीक्षण के लिए भी जाना पड़ता था, किन्तु उसके अभाव को अधिराजा, जो एक दिन उसकी अशिक्षित सेविका थी, पूरा कर लेती थी।

धीरे धीरे समय व्यतीत होता गया, नवीन शासन-विधान भी बन कर तैयार हो गया।

थोड़े ही समय में बड़े-बड़े सुधार हो चुके थे। किसानों का बकाया लगान, जो वर्षों से उन पर लदा हुआ आ रहा था, माफ़ किया जा चुका था। किसान अपनी भूमि के स्वयं स्वामी थे। उनको उसके बेचने या कायम रखने के अधिकार मिल चुके थे।

जनता में शिक्षा का प्रचार ज़ोरों से हो रहा था। गाँव-गाँव में पाठशालाएँ खोली जा चुकी थीं। इन पाठशालाओं में केवल अक्षर-बोध ही नहीं कराया जाता था, बल्कि खेती-बारी, उद्योग-धन्धा, वाणिज्य-व्यवसाय, संगीत-कला आदि विभिन्न जीवनोपयोगी बातों की शिक्षा दी जाती थी।

गाँव-गाँव में पञ्चायतें स्थापित की जा चुकी थीं, जिनके द्वारा सारा प्रबन्ध होता था। अर्थात् रक्षा और सुव्यवस्था का भार पञ्चायतों पर ही था।

प्रजा को अपनी आमदनी का आठवाँ भाग राज्य-कर के रूप में देना पड़ता था, जो उन्हीं की रक्षा, शिक्षा, उद्योग आदि में व्यय किया जाता था। इसी रकम से राजा तथा उसके परिवार का व्यय उठाया जाता था जो प्रतिनिधियों द्वारा निश्चित किया जा चुका था।

दौलतशाह भी प्रजा को भलाई को दृष्टिकोण में रखते हुए अपने अधिकारों का प्रयोग करते थे। थोड़े ही समय में उन्होंने जनता से घृणा और शाप के बदले आदर तथा बरदान प्राप्त कर लिया था।

सब कुछ था. पर दौलतशाह अपने अपमान की बात न भूले थे। वसन्तिका ने उनकी आकांक्षाओं, उनके पद की गुरुता का गला घोंट कर अक्षम्य अपराध कर डाला था। न अब पहले जैसी मौज-बहारें थीं, न उच्छृङ्खल हुकूमत। दौलतशाह बदला लेने की घात में थे।

वसन्तिका भी बहुत सावधान रहती थी। उस रात्रि के बाद वसन्तिका और दौलतशाह के बीच मुलाकातें अवश्य हुई थीं, पर दोनों एक दूसरे से ऐसे मिले थे जैसे उनके बीच कोई खाई न हो।

वसन्तिका को घटना की भयंकरता का ज्ञान अवश्य था, पर वह करे क्या। जान हथेली पर रख कर उसने अपने भीषण अपमान का बदला दौलतशाह से लिया था। इतना ही

नहीं, उसे प्रकाश से पुरस्कार जो पाना था न। प्रकाश द्वारा प्रदानित किया गया पुरस्कार, उसके जीवन के लिए कितना अमूल्य होगा, इसे वह ही जानती थी। हाँ, न तो अभी तक प्रकाश से किसी पुरस्कार की याचना हो कर सकी थी और न अभी तक किसी खतरे में पड़ी थी।

वसन्तिका, प्रकाश, दिनेश, बनमाली आदि सभी इन दिनों बड़े प्रसन्न दिखते थे। कष्टसहिष्णुता ने सफलता और सफलता ने नवजीवन डाल दिया था।

× × ×

वसन्तिका विरह-मग्ना थी। घटा छुपी हुई थी। आकाश से गिर रही टपटप बरसात की बूँदें, जालिमों को गोलियों की तरह पड़ रही थीं। वसन्तिका अपलक, आकाश से गिरने वाली बूँदों को देख कर मन ही मन कह रही थी—आज भी न आया वह साजन!

वसन्तिका के हृदय में प्रकाश की याद की बिजली कौंध रही थी। वह कहती थी—आज भी अगर वह आ जाता, तो मैं भी बरसात की बहार लूट लेती। मेरे जीवन में भी तो सावन जागा हुआ है। हर एक दिन इन्तजार में बीत जाता है। प्रत्येक दिन कर्म की दुहाई देकर जीवन के आनन्द का गला घोंट देती हूँ। आज जब उसकी याद में ही हूँ, तब मेरे रोने का मजा इन बरसाती बूँदों से पूछने आये! मेरे घनश्याम! आज मुझे तेरी ज़रूरत है, मेरी बरसात में आ जा।

वसन्तिका वियोग की गहराई में उतर कर ही यह समझ रही थी कि अभी उसने देखा ही क्या? सुख के सारे अरमान

क्या सपने हो जायँगे? क्या जीवन में कर्म ही कर्म रह जायगा? कर्म क्या इतना शुष्क है? क्या कर्म में जीवन और हृदय के दान देने की शक्ति नहीं? तदि है, तब क्यों वह अपने को कमज़ोर पाती है। सारी ताक़त, उसको एक ही याद में टूट जाती है।

वसन्तिका विक्षिप्त-सी अपने पागल मन से पूछ रही थी—क्यों तू अपरिचित के साथ प्रेम का व्यवसाय कर बैठा। आह रे! मैं तो पहले ही दिन यह समझ चुकी थी कि वह एक परदेशी है। भगवान जाने, उसके दिल हो, न हो।

वसन्तिका अपनी आग में जल रही थी। उस दिन दौलतशाह के मिलन के दिन उसने नारीत्व का स्वाँग बनाया था, उसकी जागृत पिपासा वसन्तिका के अन्तर में उद्वेलित होने लगी। अपने मदगर्वित योवन की शक्ति का पता उसे उसी दिन चला था। क्रोधावेश में आकर दौलतशाह को रिझाने के लिए उसने जो शृंगार किया था, वह सोच रही थी, प्रकाश के लिए यदि उसने किया होता?

वसन्तिका प्रकाश के बिना बहुत व्यथित थी। उसके मन में आया—प्रकाश को वह बुला भेजे। और आज सारी गुत्थियों को सुलझा ले।

वह बाहर के कमरे में आई। बुधुवा—प्रकाश का नौकर, जो बहुत दिनों से वसन्तिका की सेवा-शुश्रूषा एवं रक्षा के लिए उसी के घर रहता था—बाहर के कमरे में बैठा हुआ था। वसन्तिका ने बुधुवा से कहा—"जाओ, प्रकाश को बुला लाओ।"

प्रकाश इधर बहुत दिनों के वसन्तिका से मिला नहीं था, अतः वह भी वसन्तिका की चिन्ता में बैठा था। बुधुआ ने सहसा कमरे में प्रवेश किया—"कहाँ रहे बुद्धू ?"

"आप ही को बुलाने। वसन्तिका आपको याद कर रही हैं।"

प्रकाश बुधुवा से बातें करता हुआ वसन्तिका के घर की ओर चल पड़ा। मेह की बूँदें झकझोर-झकझोर कर बरस रही थीं। अतः दोनों खूब भीगे।

प्रकाश ने पहुँचते ही वसन्तिका से पूछा—"सरकार का क्या हुकम है ?"

पानी में भीगे हुए प्रकाश को देखकर वसन्तिका को यही कहना पड़ा—"ठीक है, तुम जैसों के लिए यही सज़ा है।"

"खैर, सज़ा जो मिलनी थी वह मिल चुकी। अब सूखे कपड़े भी दोगी ?"

"अच्छा, ठहरो, लाती हूँ।"

जल्दी में वसन्तिका को एक मज़ाक सूझा—वह अपनी धोती लिए हुए प्रकाश के सामने जा खड़ी हुई—"इसे लो !"—उसने कहा।

"मगर यह ज़नानी धोती है।"

"तो मैं मर्दानी कहाँ से लाऊँ ?"

प्रकाश बड़ी हैरत में पड़ गया। वसन्तिका ने थोड़ा और

बनाते हुए बड़ी गंभीरता से कहा—"हर्ज क्या है, पहिन लो न ! ज़नाना के मेहमान ! ज़नानी लिबास में रहा।"

"वाह ! यह भी कोई बात है। मैं मर्द जो हूँ।"

"किस बात में ?"

प्रकाश ज़रा झेंप गया सही, हालाँ कि वहाँ झेंपने की कोई ज़रूरत न थी, फिर भी बोला—'बहुत अच्छा सरकार, जो हुक्म हो।" उसने अपना हाथ फैला दिया।

वसन्तिका मुस्करा कर चल पड़ी।

"फिर दो न मैं तुम्हारा ही वस्त्र पहनूँगा। मुझे जाड़ा लग रहा है।"

"वस्त्र तो मैं तुम्हारा दूँगी।"—बड़ी गम्भीरता से उसने कहा—"पर मुझे देखना यह था कि मर्द झुकता है, या नहीं।"

"अच्छा, तब तो आप मुझे पराजय भी कर चुकीं !"—ठहका मार कर प्रकाश हँस पड़ा।

वसन्तिका ने प्रकाश के हो सूखे वस्त्र लाकर दिये। उसके एकाध कपड़े वसन्तिका के यहाँ पड़े ही रहते थे। कपड़े बदल कर प्रकाश वसन्तिका के छत वाले कमरे में जा बैठा—बरसात का दृश्य वहाँ से बहुत ही सुहावना लगता था। वसन्तिका भी उसके पीछे-पीछे झरोखे के पास जाकर बैठ गई।

"क्यों बुलाया था, वसन्तिका ?"

'बैठो न !"

"अजी, मैंने इसलिए पूछा—शायद कोई ज़रूरी काम हो।"

"यह भी मैं बताऊँगी।"

'प्रकाश ने हँस कर कहा—"तो इसका मतलब यह है कि जब तक आप मुझसे कुछ न बातें करें, तब तक मैं चुप रहूँ।"

"नहीं जी, यह मतलब नहीं।'—डरते हुए वसन्तिका ने कहा। उसने सोचा—कहीं प्रकाश इसी बहाने, न दस-पाँच मिनट चुप बैठा रह जाय. जिससे हँसना बोलना भी दूभर हो जाय।

वसन्तिका ने पूछा—"भूख लगी हो, तो कुछ खाना भी खिलाऊँ?"

"लाओ, जो खिला सकती हो। भूख होगी, तो देख लेना, शायद मैं खाने लग जाऊँ!"

वसन्तिका ने खाना तो पहले ही तैयार कर रक्खा था, अतः उसने झटपट थाली परोस कर स्वयं भी प्रकाश के साथ भोजन करने के लिए आ बैठी। आमोद-प्रमोद के साथ भोजन भी खतम हुआ।

इसके पश्चात वसन्तिका और प्रकाश कमरे में जाकर बैठ गये। वसन्तिका बैठे बैठे पान लगाने लगी और प्रकाश पास ही पड़ा हुआ पत्र देखने लगा।

वसन्तिका ने पान प्रकाश को देते हुए कहा—"जानते हो, मैंने क्यों बुलाया है?"

"दूसरे के मन की बात मैं क्या जानूँ।"

"अच्छा तो सुनो मैं बताती हूँ। तुमने पुरस्कार देने के लिए कहा था। आज लाओ, वह मेरा पुरस्कार दो।"

प्रकाश ने कहा—"पहले यह भी तो सुनूँ कि पुरस्कार में तुम क्या चाहती हो ?"

"सो तो मैं माँगूँगी ही, अभी तो मैंने केवल, तुम्हें, तुम्हारे फायदे की याद दिलाई है।"

प्रकाश एक सूखी हँसी हँस कर मुस्करा पड़ा। क्षण भर में वह मुस्कराहट भी लोप हो गई। प्रकाश बड़ी गंभीरता से बोल उठा—"वसन्तिके ! एक भिखारी से तुम पुरस्कार माँगने चली हो। यह कितना बड़ा व्यङ्ग है !"

'घबराओ नहीं प्रकाश ! मैं तुमसे ज़र-ज़मीन-ज़ेवर ऐसी कोई वस्तु नहीं चाहती ! मैं जो चाहती हूँ—उसे भी जानती हूँ—कि यदि तुम चाहो तो दे सकते हो। उलझन यह है कि क्या तुम दे सकोगे ?"

'और मैं भी इसी उलझन में हूँ कि तुम ऐसी कौन सी वस्तु चाहती हो, जो मेरे पास होते हुए, तुम्हारे लिए क़ीमती है।"

"मैं बताऊँ !"

"हाँ, बताओ न !"

"देना जरूर होगा वचन दो।"

"स्वीकार है !"

"तो सुनो !" वसन्तिका ने प्रकाश का हाथ पकड़ लिया—"मेरे लिए तुम स्वयं अमूल्य हो। मैं तुम्हें ही चाहती हूँ। तुम सदा के लिए मेरे ही हो जाओ न !"

प्रकाश चुप ही रह गया। उसे यह न सूझा कि वह वसन्तिका को क्या उत्तर दे। वसन्तिका प्रकाश की ओर आकुल दृष्टि से यह देखने लगी कि कहीं प्रकाश उसकी याचना को अस्वीकार तो न कर देगा ?

प्रकाश की चुप्पी वसन्तिका को अखर गई। उसने कहा—"क्या नहीं दे सकते मेरा पुरस्कार, प्रकाश !"

अब प्रकाश चुप न रह सका, बोला—"वसन्तिके ! तुम पागल हो !"—प्रकाश ने कहा—"एक फकीर को अपना बना कर तुम कौन ऐसी निधि एकत्रित कर रही हो, जो तुम्हारे जीवन में काम आयेगी? क्या तुम्हारी जिन्दगी में कोई अरमान नहीं ? क्या तुमने निश्चय कर लिया है कि अपने जीवन का गला घोंट दोगी ? क्या कभी तुमने विचार किया है कि एक रोने वाले के साथ रहकर जीवन के किसी पल में मैं भी हँस सकोगी ? तुमने मुझसे जो माँगा है, मैं तो समझता हूँ उसके माँगने की आवश्यकता ही न थी। आज नहीं, बल्कि एक जमाना हुआ, जब मैं तुम्हारा बन चुका था।"

"क्या यह सच है ?"

"हाँ-हाँ, सच है वसन्तिका ! लेकिन एक बात है। मैंने अपना समर्पण अवश्य कर दिया। दिल में चुन-चुन कर भावनाएँ सजा लीं कि यदि मैं कभी तुम्हारे काम आया तो समझूँगा कि लाख निराशाओं के प्रहार पड़ने पर भी मेरी प्रेम-पूजा सफल हुई, किन्तु मैंने यह अरमान कभी न रक्खा कि तुम्हें अपना बनाकर रक्खूँगा।"

वसन्तिका चुप थी । अन्दर ही अन्दर मुस्करा रही थी। अपने सौभाग्य पर उसे गर्व हो रहा था। आज वह प्रकाश के उद्‌गारों में, अपने प्राणों की सबसे बड़ी माया बटोर रही थी। प्रकाश अपनी निराशा नहीं—बल्कि वसन्तिका के दिल की बात कह रहा था. जिसे वह जानने के लिए वर्षों से पागल थी।

प्रकाश कहता ही जा रहा था—"वसन्तिका ! मैं तुम्हें समुन्नत दशा में देखना चाहता हूँ। निस्सन्देह तुमने अपने जीवन को ऊँचा उठाया है, पर मैं इतने से सन्तुष्ट नहीं। तुम मुझे अपनाकर अपने मानव-जीवन का पतन चाहती हो। शायद तुम नहीं जानतीं, मैं निराशावादी हूँ। निराशा जीवन की मृत्यु है। मैं अपने को जीवन की ओर नहीं, वरन् सतत् मृत्यु की ओर ही ढकेलता जा रहा हूँ और उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब मेरे सारे व्यापार रुक जायँगे। तुम्हीं बोलो, मेरे साथ तुम्हारे जीवन का बँधना एक विडम्बना है न, मेरे साथ रहकर तुम जीवन की ओर कैसे बढ़ सकोगी ? क्या तुम्हारी हत्या का पाप मुझे ही भोगना होगा ?

तुम मेरी बनकर रहना चाहती हो ! पर मैं तुम्हें कैसे रखना चाहता था, इसे भी क्या समझा ? मैं चाहता था—तुम जीवन के प्रत्येक पथ पर मुझसे आगे आगे दौड़तीं, मैं तुम्हारी तलाश में तुम्हें खोजने के लिए बढ़ता। तुम मुझसे सदा दूर ही रहतीं। मैं पाने के सतत् प्रयत्न में लगा रहता। तुम हिमालय की उच्च शिखा पर खड़ी होकर कहतीं—जीवन संग्राम का बल ही मानव का धन है। जो उस धन को अर्जन करेगा, वह मेरे पास आ सकेगा। मैं भी इसी प्रयत्न में लग

कर, अपनी तड़पती हुई निराशाओं को जीवन का मार्ग सुझाता।"

"तो जो कुछ तुम करना चाहते हो, मेरे देवता, उसे अब भी करना। जैसे खेल तुम पसन्द करोगे, मैं वहीं खेलूँगी। तुम जिधर मेरे जीवन के प्रवाह को मोड़ना चाहोगे, मैं उसी ओर बहूँगी; किन्तु शर्त एक ही है।"

'वह क्या ?"

'मेरा पुरस्कार मुझे दो !"

"दिया !"—कहकर प्रकाश वसन्तिका को देखने लगा। वसन्तिका—एक भावुक तरुणी—अब भी जैसे प्रकाश पर विश्वास न कर सकी। उसने प्रकाश का हाथ पकड़ कर उठा लिया—"इधर आओ, एक बात बताऊँगी।"—कहते हुए वह प्रकाश का हाथ पकड़े झरोखे पर जा खड़ी हुई।

"प्रकाश ! इधर देखो ! ये क्या पड़ रही हैं।"

"पानी की बूँदें। कितनी शीतल हैं ये !"—प्रकाश ने कहा।

"हाँ, सच ! मगर ये इसी समय शीतल हैं। घण्टे भर पहिले इनसे आग बरस रही थी। मैंने अनुभव किया था।"

"बूँदें तो, वसन्तिका ! वे ही हैं। घण्टे भर पहले भी ऐसी ही थीं। अग्नि और शीतलता, ये दोनों तो तुम्हारी भावनाओं में हैं।"

"इसे तुम भी मानते हो न !"

"अवश्य !"

"तब तुम मेरी भावनाओं की क़दर क्यों नहीं करते ?"

"करता तो हूँ !"

"झूठ, अभी तुम कह रहे थे कि मैंने तुमसे तुम्हारी याचना कर, पागलपन किया है। तुम मेरी भावनाओं को क्या समझे ?"

प्रकाश मुस्करा पड़ा—"सरकार !'—वह बोला—"मैंने तो सब कुछ मान लिया।"

"मैं अब नहीं मानती। अच्छा, एक बात और मानो।"

"क्या ?"

"आँखें बन्द करो।'

'बहुत अच्छा !"

प्रकाश ने आँखें बन्द कर लीं ! वसन्तिका जल्दी से प्रकाश को चूमकर दूर जा खड़ी हुई।

"यह क्या वसन्तिका ?"

'तुम नहीं जानते ! अजी, सावन है, बरसात है. बहार के दिन हैं। और यह, प्रेम पुरस्कार का प्रथम चिह्न !"

प्रकाश ने बुदबुदा कर कहा—"जानता हूँ, मुझे भटकाने की यह एक माया है, मेरी पिपासा जागृत करने की एक कला।"

× × ×

दौलतशाह अपने एकांत कमरे में कोच पर बैठे हुए थे। सामने फ़र्श पर शाही हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। वह रह-रह कर कश लगा बैठते थे। सारा कमरा ख़मीरे और सुगन्धित द्रव्यों से गूँज रहा था। उनके सामने दो हट्टे कट्टे जवान खड़े थे।

"बोलो, काम तुम्हारी हिम्मत के अंदर है न ?"

"जी हाँ, सरकार !"

"तो यह लो अपना इनाम !"

दौलतशाह ने हज़ार रुपयों के नोट की गड्डी उन दोनों की ओर खिसका दी—"इतना ही काम फतह होने पर और दिया जायगा।" कश लगाते हुए दौलतशाह बोले।

"बहुत अच्छा, मेरे अच्छे सरकार ! हम लोग तो हुज़ूर की ही बदौलत पलते हैं। हुजूर के अलावा और किसी की गज़ भर छाती नहीं, जो हम लोगों के काम का इनाम दे सके।"

'अच्छा तो तुम जाओ।"—कह कर दौलतशाह उठ खड़े हुए। जब वे दोनों जाने लगे तो बोले—'और सुनो. क़ाम जहाँ तक हो, जल्द खतम करना।"

दौलतशाह पोर्च पर खड़ी कार पर आ बैठे। कार सर सराती हुई महल के बाहर उड़ने लगी। ड्राइव करने में वह स्वयं पटु थे। कार घण्टे दो घण्टे में ही जागोर से बाहर सौ, सवा सौ मील की दूरी पर खड़ी थी ! दौलतशाह एक अन्य जागीरदार के मेहमान थे।

उसी दिन—

वसन्तिका बुधुआ को साथ-साथ लिये घूम कर लौट रही थी। गोधूलि बेला बीत चुकी थी। राजपथ पर बिजली का प्रकाश होने लगा था। सड़क पर इक्के-दुक्के आदमी चल रहे थे। कभी-कभी सड़क बिलकुल शून्य दिखाई पड़ती थी।

वसन्तिका और बुधुआ चलते-चलते एक पुल के मध्य

भाग पर जा पहुँचे थे। सहसा पुल के एक कोने से दो हट्टे-कट्टे आदमी दौड़ते हुए नज़र आये।

जल्दी में आवाज़ आई—"इस मनहूस को ख़तम करो!"

दूसरे ही क्षण पिस्तौल की आवाज़ हुई और बुधुवा की लाश वहीं पर ढेर हो गई। वसन्तिका घटना की भयंकरता समझ भी न पाई थी कि उसके मुँह पर कसकर बंधन डाल दिया गया। वह चूँ भी न कर सकी। दोनों आदमी उसे उठा कर ले भागे।

कुछ ही देर बाद इस घटना की ख़बर सारे नगर के कोने-कोने में सुनाई पड़ने लगी, क़ातिल कौन थे, कहाँ गये, बुधुआ क्यों मारा गया, वसन्तिका क्यों लापता है—आदि प्रश्न उलझन के थे। पुलीस छानबीन कर रही थी। शहर के प्रत्येक रास्ते बन्द थे। फिर भी पता लगाना कठिन हो रहा था।

जनता का प्रेम और विश्वास उसे दोनों प्राप्त था। जनता में क्षोभ और क्रोध की लहर फैल रही थी।

प्रकाश कुछ कुछ तो समझ रहा था। अन्तर में उसके आग जल रही थी। वह ऊपर से बहुत शांत था।

प्रकाश ने शीघ्र ही जनता के कुछ ज़िम्मेदार प्रतिनिधियों से परामर्श किया और यह तय किया कि महाराज को इसकी सूचना शीघ्र दी जानी चाहिए। वह चाहे जहाँ कहीं पर हो।

उनके प्रोग्राम का पता लगाया गया और उनकी सेवा में तार पर तार खटखटाये जाने लगे। दौलतशाह दूसरे ही दिन

आ पहुँचे। उन्होंने व्यक्तिगत पुलीस को बड़ी लथाड़ें बताईं और जनता के प्रतिनिधियों तथा प्रकाश के समक्ष समवेदना प्रकट करने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने बड़े कठोर शब्दों में कहा—"मेरे राजत्व काल में आततायियों का यह पहला दुस्साहस है, फिर भी यदि पता लगा तो कठोर दण्ड दिला-ऊँगा कि वह भी याद करेंगे।"

जो होना था सो तो हो चुका। प्रकाश भरे हुए मन से बुधुआ का मृतक संस्कार स्वयं करने लगा। सचमुच, प्रकाश पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। उसका एक सेवक नहीं बल्कि सच्चा हितू- वफ़ादार दोस्त दुनिया से कूच कर गया। ज़ालिमों ने निरपराध हत्या द्वारा प्रकाश की सुख-शान्ति को ही छीन लिया। प्रकाश पत्थर दिल बन कर लहू के घूँट पीने लगा।

× × ×

वसन्तिका एक अँधेरे कमरे में न जाने कितने घण्टों से अस्त पड़े अपने दुर्भाग्य की बात सोच रही थी। उसे पता न था कि दिन है या रात्रि, वह कहाँ पड़ी है किसकी इच्छा से पड़ी है?

सहसा उसे अपने कमरे के एक कोने में एक हलकी रोशनी दिखाई पड़ने लगी। रोशनी उसके पास ही पास आती गई। थोड़ी देर में एक द्वार खुला। वसन्तिका ने जाना—वह कई कमरों के बीच एक गोल कमरे में बन्द है। वसन्तिका के सामने दौलतशाह खड़े थे और पीछे हाथ में रोशनी लिये हुए वसन्तिका को ले भागने वाला एक व्यक्ति!

दौलतशाह को देखते ही वसन्तिका के रोम-रोम से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उसने गरज कर कहा—"यह दुष्कर्म आपने कराया, महाराज! उफ़, एक निर्दोष प्राणी की आपने हत्या करा दी। मैं कहती हूँ आप अपनी आग में, अपने आप जल जाओगे! ग़ज़ब! अधिकार और प्रभुता का इतना दुरुपयोग!"

दौलतशाह ने शासन के स्वर में कहा—"चुप रहो, दग़ाबाज़ औरत! मैं ज़्यादा कुछ नहीं सुनना चाहता। तुमने मुझे मिटाने का जो कौशल किया था, आज उसके बदले का दिन है। तुम्हारे सामने दो रास्ते हैं, या तो मेरी इच्छा पूर्ण करो, या मिटने के लिए तैयार रहो। मेरे झाड़ देने वाले नौकर भी तुम्हारे साथ व्यभिचार करेंगे। तुम जिस सौन्दर्य को मृग-तृष्णा उत्पन्न करा कर मुझे मिटाने की चेष्टा में थीं, आज उस सौन्दर्य को मैं पद-दलित करूँगा समझ लेना, तुम्हारी कुल ज़िन्दगी इसी कमरे में है। बस मैं जाता हूँ। तुम अपना प्रत्युत्तर सोच-विचार कर शाम तक भेज देना। काग़ज़, स्याही तथा रोशनी अभी तुम्हारे पास आ जायगी।"

दौलतशाह वहाँ से चले आये। कुछ देर पश्चात् वसन्तिका को सभी सामग्रियाँ मिल गईं। उसने कुछ निश्चय किया और पत्र लिखने बैठ गई।

पत्र इस प्रकार था—

"महाराज!

आपकी कमीनी विषैली वासनाओं का क्रीड़ा-क्षेत्र, जीते

जी, मेरा यह शरीर कभी न बन सकेगा, यह दृढ़ निश्चय मैं उसी दिन कर चुकी थी, जिस पहली भेंट में आपने अपनी बेशर्म लालसाओं को खोल कर मेरे सामने स्पष्ट किया था। जो निश्चय उस क्षण था, वही अब भी है। मैं अपने निश्चय से कभी तिल भर भी नहीं हटी हूँ।

फिर भी, मुझे ज्ञात हो चुका है, जैसे मेरे जीवन की आवश्यकता अब इस दुनिया में नहीं है और संभवतः जब तक मेरा यह पत्र आपके हाथों पहुँचे, मैं इस अँधेरी कोठरी से, आपके लाख छिपाके और क़ैद रखने पर भी मुक्त हो जाऊँ।

मुझे अपनी मृत्यु से भय नहीं। यदि वह मुझे अपने आलिंगन द्वारा, उस नारकीय पीड़ा से मुक्त करने आई है, जिसके थपड़ों को इच्छा या अनिच्छा रखने पर भी, मुझे सहना ही पड़ता तो मैं भी हृदय बिछा कर उसका स्वागत करती हूँ और समझती हूँ कि मेरी यह मृत्यु, मेरे लिए वरदान है, जो मेरी आवश्यकता पर ही मुझे प्राप्त हुई है।

हाँ, एक बात मैं अपने मरने से पूर्व बताये जाती हूँ। वह यह है—मेरा बलिदान व्यर्थ नहीं जायगा। मेरे नारीत्व में भयङ्कर बल था। मैंने उसे त्याग, तपस्या एवं सेवा की कमाई द्वारा प्राप्त किया था। मेरे इस बल की आवश्यकता को समाज ने भली-भाँति समझा था और उसका सदुपयोग भी किया था। आज षड्यंत्रों एवं कुकर्मों द्वारा दुनिया के परदे से ओझल हो रहा है। कल वह न जाने कितने प्राणों में बस कर आपके अस्तित्व को मिनटों और पलों में धूल में मिला

देगा। यदि आप चाहेंगे तो अपने पापों का थोड़ा बहुत प्रायश्चित कर सकेंगे। मैं अप्रतिहिंसक भावना द्वारा आपके कल्याण का मार्ग बता रही हूँ।

मेरा शरीर बहुत दिनों से अपना नहीं रहा। अपने यौवन के प्रारम्भ में ही एक पुरुष-देवता की पुण्य-स्मृति में मैंने उसे समर्पण किया था। वह पुरुष अन्य कोई नहीं, वरन्, आपको जागीर का एक सफल समाज-सेवक, सदा का तपस्वी एवं मानवता का पुजारी है। उसे आप जानते हैं। वह है प्रकाश!

मेरी मृत्यु का सब से भयङ्कर और पीड़ामय असर जिन दो आत्माओं पर पड़ेगा, वे ही यदि चाहेंगी तो आपको क्षमा कर सकेंगी! वे दोनों मेरे पिता वैरागी और प्रकाश!

आप उन्हें नन्हा सा समझने की भूल न कर बैठिएगा। वे शक्तिशाली हैं। उनके पास आत्मा की शक्ति का अटूट भण्डार है। उनमें सहिष्णुता, दया व क्षमा का बल है। उनको ताकत है कि वे आप जैसे क्रूर-आततायियों का समूल नष्ट कर दें, आपके वैभव-राशि पर क्रान्ति की चिनगारियाँ छिटका दें और आपसे वैसा भीषण प्रतिशोध लें, जो सदैव के लिए आपकी पद-महत्ता को लोप कर दे, किन्तु फिर भी वे ऐसा न करेंगे। वे दोनों आत्मा के धनी हैं। वे आपकी भूलों को क्षमा करेंगे। आपके भावी जीवन का कल्याण-प्रद मार्ग, खोज दिखायेंगे।

आप अपने घृणित पाप को छिपाने का प्रयास भी न कीजिएगा। आपका दामन रङ्ग विरङ्गे पापों के रंग से पूरा

रँग चुका है। अब उसे धोने की ज़रूरत है। संभव है इस चेष्टा में लगे रहने पर किसी दिन साफ़-सुथरा निकल आये।

इसके विपरीत यदि आपने अपनी इस कमाई को छिपाकर रखने की चेष्टा की, तो निश्चय है कि इसी छोटे से आपके शरीर-रूपी घरौंदे में निवास करने वाला ईश्वर—आपकी अन्तर्पुकार बनकर आपके पापो अशान्तियों की गाथा सुनाये।

बस, मैं अपनी ओर से, आपको—ईश्वर क्षमा करे—प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरा पत्र मेरे पिता और प्रकाश को अवश्य दिखा दें। मैं जानती हूँ, वे आपके अवशेष जीवन के साथी बन जायँगे और साथ ही मेरा दूसरा पत्र प्रकाश के पास भेजवा दें।

बस और कुछ नहीं।

—वसन्तिका"

× × ×

दौलतशाह को पत्र लिखने के बाद, वसन्तिका प्रकाश को जल्दी-जल्दी में पत्र लिखने बैठी। लेखनी उठाने के पूर्व ही उसने अपनी अँगूठी तोड़ डाली। अँगूठी में एक हीरक-कनी जड़ी हुई थी। वसन्तिका के जीवन का पटाक्षेप करने के लिए वह पर्याप्त थी। वसन्तिका उसे खा गई। उसकी लेखनी उठी और इधर टप-टप आँसुओं की झड़ी लग गई। वह अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों में, अगाध करुणा में डूबी हुई प्रकाश को पत्र लिखने लगी—

"मेरे देवता !

तुम्हारे मिलन की अधूरी आशा लिये, आज इस दुनिया से कूच कर रही हूँ। आँखें दर्शन की प्यासी हैं, आत्मा असफल प्रेम बोझ से दबी। मेरे जीवन का अन्त घोर वितृष्णा में हो रहा है। मैं जानती नहीं, कैसे अपनी मुक्ति पा सकूँगी। मैं तो मरने की घड़ियों में भी बेचैन हूँ।

दिल की आरजुएँ, दिल के साथ हो जा रही हैं। मिलन की बड़ी बड़ी आकांक्षाएँ, मौत के घने अँधेरे में, तड़प-तड़प कर लोप हो रही हैं।

तुम्हारी स्मृति का वह तन्तु—जिसके सहारे वर्षों से जीवन की पीड़ा ढोती हुई आगे बढ़ती आई—एक झटके में छिन्न-भिन्न हो जाने को है। प्रियतम, क्या मेरी प्रेमोपासना का वरदान यही निराशा है? यही निराशा क्या मिलन है? क्या मिलन मृत्यु है?

कितनी-कितनी गुत्थियाँ हैं, जो अभी तक सुलझी ही नहीं! कितनी कितनी आशंकाएँ हैं, जो निर्मूल ही नहीं हुईं। कितनी-कितनी संभावनाएँ हैं, जो नहीं सम्भव हो सकीं। इन सब के पहिले ही मौत का पैग़ाम आ पहुँचा। मैं घड़ी दो घड़ी में चल देने को हूँ। पथ अन्धकारमय है। नहीं जानती! कहाँ जाऊँगी, फिर तुम्हें कहाँ पाऊँगी?

प्रकाश! मेरे सर्वस्व!! अपनी अन्तिम पीड़ा को क्या बताऊँ? क्या सुनाऊँ? तुम सब जानते हो। अपनी कुछ

कहने का अब समय नहीं। लहराती हुई मौत की तमिस्रा नेत्रों के परदे में छा रही है। दो बातें तुमसे कहती हूँ। तुम्हारे जीवन की कहती हूँ। इसे मान लेना।

प्रथम यह कि मेरे वियोग की वेदना से ऊब न जाना। मैं जानती हूँ, यह तुम पर अन्तिम नियति का क्रूर प्रहार है। इससे अधिक कठोर ठोकर तुम्हें और दूसरी न खलेगी, फिर भी मेरे प्राण, मेरे दार्शनिक! तुम समझना कि वसन्तिका जीवित है। मैं एक कसक बनकर तुम्हारे प्राणों में हूला करूँगी।

दूसरे, दौलतशाह के प्रति सदा क्षमा की भावना प्रदर्शित करना। जिसने तुम्हारा सर्वनाश किया है, उसके प्रति तुम सर्वदा उदार रहना।

बस, अन्तिम विदा। बाबा की सेवा का उत्तरदायित्व आज से तुम पर है। उस तपस्वी को श्रद्धायुत अन्तिम प्रणाम!

तुम्हारी—रानी,
वसन्तिका"

× × ×

दोनों पत्र काँपते हाथों से लिफाफे में बन्द कर, वसन्तिका ने अपने सिराहने रख दिये और उसी जगह भूमि पर लेट गई। प्रायः उसकी चेतना लोप होती जा रही थी तथा शरीर शिथिल। फिर भी जैसे वह दृढ़ सङ्कल्प किये बैठी थी कि जागृति के अन्तिम क्षण तक प्रकाश को न भूलेगी। उसका

प्रकाश उसकी बन्द पलकों के अन्दर नाच रहा था। वेदनाएँ खो चुकी थीं। वह सत्यं, शिवं, सुन्दरं. की अलख जगाये हुए थी।

समय व्यतीत होता गया। जब सन्ध्या को पाँच बजे उस काल-कोठरी का द्वार खुला तो दौलतशाह के आदमी ने देखा—वसन्तिका निश्चेष्ट पड़ी है। उसके जीवन की अन्तिम लीला समाप्त हो चुकी है।

वह हत्यारा भी इस मार्मिक दृश्य को न देख सका। वहीं दिल थाम कर बैठ गया। वसन्तिका जैसे उससे पूछ रही थी—क्यों! आज तो मेरी सुहागरात है न! तुम्हें इनाम मिलेगा।

हत्यारा घबरा कर उठा। उठते-उठते उसने दोनों लिफ़ाफ़े उठाये और दौलतशाह के सामने जाकर गिर पड़ा।

दौलतशाह कुछ समझ न सके। दोनों लिफ़ाफ़े वहीं गिरे पड़े थे। जल्दी जल्दी में उन्होंने अपने नाम का लिफ़ाफ़ा खोला और पत्र पढ़ने लगे। दो ही चार पंक्तियाँ उन्होंने पढ़ी होंगी कि सारी घटना उनकी समझ में आ गई। फिर भी वह अपनी बेचैनी को दबाये पत्र पढ़ते ही गये। पत्र ख़तम होते न होते, धीमे शब्दों में उनके मुँह से निकल पड़ा—वसन्तिका तो क्षमा कर देगी, पर मेरी आत्मा नहीं।

इसके आगे कुछ सोचने-विचारने का समय तो था नहीं। उन्होंने प्रकाश का पत्र शीघ्र ही उसके पास भेजा और साथ ही बुला लाने का भी निर्देश कर दिया। दौलतशाह वसन्तिका के शव वाले कमरे में जाकर एक भयानक चिन्ता में डूब गये।

थोड़ी देर पश्चात् प्रकाश भी आ गया, सदा की तरह धीर, गम्भीर। जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं। दौलतशाह प्रकाश को देखकर उसके पैरों में गिर पड़े—"मैंने तुम्हारा सर्वनाश कर डाला, प्रकाश ! मैं हत्यारा हूँ, वसन्तिका का।"—आगे वह कुछ न बोल सके।

प्रकाश ने दौलतशाह को उठाते हुए कहा—'महाराज ! अभी कुछ कहने-सुनने का समय नहीं। जो होना था, वह हो चुका। इस समय वसन्तिका के शव को वनस्थली भिजवाने का प्रबन्ध करें। वहीं अन्तिम संस्कार किया जायगा। और देखिये, अभी यह समाचार पूर्णतः गुप्त रखिये। कानो-कान किसी को खबर न हो. अन्यथा चारों ओर उत्तेजना फैल जायगी।"

बड़ी ही शीघ्रता और सावधानी के साथ वसन्तिका का शव एक लारी में रखा दिया गया। दौलतशाह और प्रकाश शव के साथ वसन्तिका को उसी पुरानी वनस्थली की ओर रवाना हो गये।

× × ×

धू-धू करके चिता जल रही थी।

सबसे अलग एक ओर बैठा हुआ था चिन्ताग्रस्त, बावला प्रकाश ! ठीक चिता के दूसरी ओर बैठे थे दौलतशाह, कभी अपलक शून्य आकाश को देखते हुए, कभी चिता को।

इन दोनों से कुछ दूर हट कर एक शिला-खंड पर बैठा हुआ था वैरागी मुस्कराता हुआ।

चिता के आस-पास खड़े हुए थे आश्रम तथा सेनिटोरियम के कार्यकर्ता। उन सब के बीच अधिराजा। सभी मौन थे। सभी अपनी भावनाओं में डूबे।

बड़ी देर के पश्चात् किसी ने कहा—"प्रकाश! चलो अंतिम प्रदक्षिणा कर लो न! सब कुछ तो भस्म हो चुका। पिण्ड का कहीं पता भी नहीं।"

निर्जीव-सा प्रकाश उठा और आकर चिता की प्रदक्षिणा फिरने लगा। उसके पीछे वैरागी, दौलतशाह, अधिराजा तथा अन्य कार्यकर्ता थे। अंतिम प्रदक्षिणा फिरने के बाद, सभी अपलक चिता को देखने लगे। वसन्तिका लोप हो चुकी थी। चिता की लपटें अब भी ज़ोरों से उठ रही थीं। प्रकाश उन्हीं की ओर प्रश्न सूचक मुद्रा में देखते हुए कुछ पूछ रहा था और जैसे लपटों के बीच से वसन्तिका कह रही थी—प्रियतम! अब अपनी आग को भी यहीं भस्म करते जाओ न! मैं केवल अपने लिए ही भर नहीं; तुम्हारे लिए भी जल रही हूँ। देखो! अपनी ग़रीबी का पाप इसी ज्वाला में फेंक दो न! मैं उसे भी भस्म कर दूँगी।

प्रकाश चिता को अन्तिम नमस्कार कर चल पड़ा—जैसे, वह अब वसन्तिका की बात न मानना चाहता हो।

प्रकाश के बाद अंतिम नमस्कार के लिए वैरागी खड़ा था। उसकी मुस्कान अब भी नहीं सूखी थी। वह भी चिता के हाहाकार से जैसे सुन रहा था—बाबा! प्रसन्न तो हो न?

देखो ! मानवता के पुजारी ! मैंने अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया। मुझे वरदान दो न !

वैरागी अपने बरद हस्तों द्वारा, कुछ लकड़ियाँ चुन कर चिता में फेंकने लगा, जैसे सचमुच वह वसन्तिका को वरदान दे रहा हो। उसकी आत्मा शांत और प्रसन्न थी।

अब दौलतशाह का नम्बर था। वह प्रदक्षिणा करके जभी चिता को नमस्कार करने के लिए खड़े हुए, लपटों की ज्वाला उनकी ओर सहसा बढ़ आई। वे एक कदम हट गये।

उनसे भी जैसे किसी ने कहा—डरो नहीं महाराज ! तुम मुझे आलिङ्गिन करना चाहते थे। मैं तो तुम्हारे ही पास आ रही हूँ।

जिसकी जो भावना थी, उसे वसन्तिका की चिता में वही बात मिली। अधिराजा और कार्यकर्ताओं ने जब अंतिम प्रणाम किया तो जैसे उन्हें भी लगा कि कोई व्रत की टेक पर उत्सर्ग हो जाने को आदेश कर रहा है।

वसन्तिका का अंतिम संस्कार हो चुका। दौलतशाह वापस अपने नगर चले आये। प्रकाश ने सोचा—अब और कहाँ जाना। वह कुछ दिनों वहीं, कुटी बना कर रम गया। वैरागी ने सोचा- वह जाते जाते अपना काम कर गई। अब जो कुछ करने को है, उसके नाम पर मैं करता जाऊँगा।

दौलतशाह को प्रकाश और वैरागी दोनों ने क्षमा कर दिया।

× × ×

पाप के बदनशे ने दौलतशाह के जीवन में, एक नया ही गुल खिला दिया। मेरा बलिदान व्यर्थ नहीं जायगा।' वसन्तिका के पत्र की यह पंक्ति उनके दिल में खटक उठी।

दौलतशाह अपने पापों की गिनती करने बैठे—एक, दो, तीन, चार, दस, सौ, हज़ार। संख्या बढ़ती ही जाती थी। वह पापों के बोझ से दबे हैं, ऐसा उन्होंने अनुभव किया। दौलतशाह की अन्तरात्मा ने जवाब दिया—अब डरता क्यों है! कर्म-फल भोगना ही पड़ता है। जो तूने कमाया है, वही सब तो तेरा बोझ है. जो तेरे सिर पर रक्खा है।

दौलतशाह सोचने लगे—इस बोझ को मैंने क्या समझ कर लादा था? केवल इसलिए कि जीवन में सुख और शान्ति मिलेगी। किन्तु शान्ति तो विडम्बना हो गई।

यौवन मद के चढ़ते ही मैंने किया क्या? केवल परस्वाप-हरण। दूसरे के हक़ अधिकारों को छीनना।

मैंने लोगों की ज़मीन-जायदादें छीनीं, इज्जत-आबरू बर्बाद की, चरित्रहीनता का आदर्श उपस्थित किया, बड़े-बड़े सुधारों और रिआयतों के नाम पर जनता का धन चूसने लगा। जब धन नहीं रहा, तब मैंने मनुष्य के नैतिक बल पर छापा मारा।—वह और आगे सोचने लगे—मैंने एक चमकती हुई सड़ी सभ्यता के ओट में, युवक नागरिकों के मनोबल को नष्ट करके, उन्हें अपना गुलाम बनाया। बड़े-बड़े विद्वानों की स्वतन्त्र प्रतिभा, मेरे मुँह से निकले हुए दो शब्दों की गुलाम बन गई। मेरा मत विधाता को भाग्यरेखा की तरह अमिट रहता। बस क्या था! मैं परम स्वतन्त्र हो गया।

आगे चलकर स्वतन्त्रता तथा शक्ति का मैंने जो दुरुपयोग किया, उसने मेरी मनुष्यता को हैरत में डाल दिया। मैं आज उसे सोचकर दङ्ग हूँ। वसन्तिका का सर्वनाश मेरे उन्हीं काले कारनामों का ताज़ा उदाहरण है।

मेरे इन सब पापों का परिणाम? मेरी इस कमाई का ब्याज? मेरी ज़िन्दगी के उसूलों का प्रतिफल? यह सब अब तक क्यों नहीं मिले? पापों ने अपनी भयंकरता से मुझे दहलाया क्यों नहीं? जागरण का सन्देश मुझे अब तक क्यों नहीं मिला?

मैं समझा - संभवतः मेरा अन्तिम फैसला वसन्तिका के द्वारा ही होना था। वसन्तिका ही मेरे भावी जीवन के अभिनय की सूत्रधार थी।

दौलतशाह के हृदय में वसन्तिका के पत्र के एक-एक शब्द चुभ चुके थे।—पाप का दामन पाप के रंग-विरंगे रङ्गों से पूरा रङ्ग चुका है, अब इसे धोने की ज़रूरत है—वसन्तिका का यह सन्देश हो उनके हृदय-परिवर्तन की भावना को उकसा रहा था।

मुझे प्रकाश और वैरागी दोनों ही शक्तिशाली होते हुए भी क्षमा कर देंगे, फिर भी मुझे प्रायश्चित करना होगा—यही तो वसन्तिका का दृढ़ निश्चय है।

दौलतशाह की विचार-धारा यहाँ आकर रुक गई। पापों का प्रायश्चित कैसे करना होगा, वह अपने हृदय से समझने

लगे। एक दिन, दो दिन, कई दिन उन्होंने गँवा दिये। पापों की जलती हुई भट्टी में जलते रहने के सिवा उन्हें कोई मार्ग न सूझा। उनकी दिनचर्या का क्रम ही बदल गया। दिन भर एकांत में बैठे बैठे गये-गुज़रे दिनों की काली याद में, उनका पल्लवित जीवन सूखने लगा। वह कोई इलाज न कर सके। दुनिया को अपनी सूरत दिखाना उन्हें दूभर हो गया। राज-काज का सारा काम जनता के हाथों सौंप दिया। चारों ओर से मुँह मोड़कर, सबसे अलग जा बैठे।

एक दिन जीवन का नव-प्रभात आया। दौलतशाह अपने कमरे से सोकर उठे ही थे, सूर्योदय हुआ नहीं था; लेकिन होने जा रहा था, ठीक उसी समय एक फकीर राजपथ से गाता हुआ जा रहा था—

कामिनि, कंचन की माया में,
तूने पाप, ग़रीबी ढाया।
अन्तर की विभूति को खोकर,
तूने जीवन व्यर्थ गँवाया।
अब भी चेत! जाग, उठ, प्राणी!
विगत रात्रि की निद्रा छोड़।
जागृति में ही जीवन का सुख है,
केवल इससे नाता जोड़।

एकाएक दौलतशाह के हृदय में ज्ञान का एक प्रदीप ज्योतित हो उठा। फकीर के एक-एक शब्द उनके अनंतर में

चमकने लगे। एक दार्शनिक की भाँति उन्होंने अनुभव किया कि फ़कीर जो कुछ गा रहा है, वह सच है।

शीघ्र ही दौलतशाह ने फ़कीर को सादर बुलवाया। नौकर दौड़े और थोड़ी ही देर पश्चात् फ़कीर को बुला लाये। दौलतशाह ने उठ कर अभिवादन किया और फिर बैठने का संकेत करते हुए स्वयं भूमि पर बैठ गये।

"महाराज ने मुझे क्यों बुलाया?"

"जो भजन आप अभी गाते हुए जा रहे थे, उसी को सुनने के लिए।"

'वह तो मैं प्रतिदिन इसी पथ से गाते हुए निकलता हूँ। महाराज ने और भी किसी दिन याद किया होता?"

"वह मेरी समझ में आज ही आया!"

फ़कीर के मुँह पर एक भेद भरी मुस्कान दौड़ गई। वह मधुर स्वर में गाने लगा। दौलतशाह न जाने कब तक सुनते रहे। फ़कीर ने कुछ देर बाद गाना बंद कर दिया।

"अब चलूँगा महाराज! आज्ञा हो।" कह कर वह उठ खड़ा हुआ।

"आपका कोई सवाल?"

'क्या महाराज पूरा करेंगे?"—फ़कीर प्रश्न सूचक दृष्टि से देखने लगा।

"अवश्य!"

'तो देश की ग़रीबी के पाप को दूर कीजिये।"

'बहुत अच्छा!"

फकीर चल पड़ा। दौलतशाह ने अभिवादन करते हुए कहा—"फिर कभी दर्शन दीजिएगा!"

'बस महाराज! मेरा सवाल पूरा हो चुका। मैं आज नगर छोड़ कर चला जाऊँगा।"

"कहाँ?"

"विन्ध्य की एक घाटी में।"

दौलतशाह ने फकीर पर एक तीक्ष्ण नज़र डाली और अचकचा कर बोल उठे—"अरे तुम, प्रकाश! मेरे अँधेरे हृदय के प्रकाश! मेरे गुरु!"

दौलतशाह प्रकाश के चरणों में लोट पड़े। प्रकाश ने दौलतशाह को उठा कर हृदय से लगा लिया। एक-दूसरे में चिपटे-चिपटे दोनों ने न जाने अपने हृदयों की कितनी गुत्थियाँ सुलझा डालीं, फिर भी दोनों मूक थे। दौलतशाह ने अलग हटते हुए कहा—"अब आज तो मेरा आतिथ्य स्वीकार करो। मैं न जाने दूँगा।'

प्रकाश दुविधा में पड़ गया। वह जहाँ था वहीं खड़ा हो गया। दौलतशाह प्रकाश के मनोभावों को समझते हुए बोले—'क्या कोई अड़चन है?"

"हाँ, महाराज! मैं प्रतिज्ञाबद्ध हूँ। वसन्तिका की मृत्यु के पश्चात से मैंने लौकिक व्यवहारों को तोड़ दिया। कुछ दिनों तक तो मैं महान् अशान्ति में वहीं पड़ा रहा और वहीं पड़े रहने का विचार भी कर डाला था; किन्तु मेरी एक

समस्या हल होनी बाकी थी। वह यह कि, ग़रीबी के पाप को दूर करने का जो व्रत मैंने लिया था, लौकिक संबंधों को तोड़ने के समय मैंने अपनी मिशन को किसी योग्य पात्र को सौंपना चाहा था। यद्यपि उसके चलाने वाले मेरे कई अन्तरङ्ग मित्र थे, फ़िर भी मैंने योग्य पात्र आपको चुना था। आज वह शुभ दिन आ पहुँचा और मैं निश्चिन्त होकर अपना भार आप पर डाल रहा हूँ। अब मुझे यहाँ रुकने का एक भर भी समय नहीं। आज से मेरा अवशेष जीवन उसी पहाड़ी में व्यतीत होगा। आतिथ्य के बदले में मैं आपसे भिक्षा चाहता हूँ।"

दौलतशाह को प्रकाश की असमर्थता पर धक्का लगा, पर करते क्या! थोड़े से फलों की भिक्षा उन्होंने प्रकाश की झोली में डाल दी। वह चला गया।

× × ×

एक माह पश्चात्—

दौलतशाह ने अपनी समस्त जनता के निमंत्रण का एक विराट आयोजन किया। गाँव-गाँव और घर-घर के सभी छोटे-बड़े लोग शामिल हुए। सबका हार्दिक अभिनन्दन किया गया। सब लोगों ने अपने नव-परिवर्तित नरेश का आतिथ्य स्वीकार किया। जनता को भोजन कराया गया। दीन दुखियों को अन्न-वस्त्र की सहायता दी गई। इसके पश्चात् एक विशाल सभा-मण्डप में सारी जनता एकत्रित हुई। दौलतशाह ने जनता को, उनके आतिथ्य स्वीकार करने की कृपा पर हार्दिक बधाइयाँ दीं और इसके पश्चात् वह एक छोटा-सा भाषण देने

के लिए उठ खड़े हुए। उनका भाषण उनके नव-जीवन के उद्देश्यों का प्रेरक था। उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

"मेरे प्रिय नगरवासियो !

आज की इस सभा का उद्देश्य मेरे उस नये जीवन से है जिसे मैं आज से, अभी से, इसी क्षण से आप लोगों को साक्षी बना कर स्वीकार करता हूँ और आशा करता हूँ कि आप सब मेरे भावी जीवन के चिर सहचर बनेंगे।

कुछ क्षणों के लिए मेरे अतीत के उस पाप पूर्ण जीवन पर विचार करने की आवश्यकता है जिसकी बदमस्ती में मैंने लाखों अनर्थ किये हैं, जिन अनर्थों का दुखद परिणाम आप लोगों को भोगना पड़ा है और जिन अनर्थों ने ही मेरे और आप लोगों के बीच के पवित्र संबंधों को नष्ट कर, मेरे तथा आपके बीच एक चौड़ी खाई डाल दी है। आज समय आ चुका है, जबकि मैं अपने सारे अनर्थों, सारी दुष्कृतियों तथा सारे पापों का प्रायश्चित करने को बैठा हूँ और आज ही से अपने नये जीवन का श्रीगणेश करता हूँ।

मेरा वह नया जीवन है क्या? इसे अधिक देर तक सोचने की आवश्यकता नहीं। देश की ग़रीबी का पाप, जो हमारे सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की झाँकी को नष्ट कर, एक घिनौने कोढ़-सा ग़रीब जनता पर लदा हुआ है, जिसने जनता को गुलाम बना कर, जनता की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वतंत्रता का नाश किया है; और जो आज भी हमारे जीवन को घोर अधःपतन के रसातल में छोड़ कर हमारे देश जाति, सभ्यता, व्यापार, कला-कौशल आदि को अस्तित्वहीन करने में लगा

है, मैं आज से उसी पाप को दूर करने की प्रतिज्ञा करता हूँ और अपनी समस्त व्यक्तिगत सम्पत्ति इसी पाप के नाश करने के हेतु दान करता हूँ। मैं अपने पद की मर्यादा एवं इज्जत का भी इच्छुक नहीं हूँ।

आज से यदि आप लोग अपना सेवक स्वीकार करेंगे तो मैं भविष्य में जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से ही राज्य-शासन में अपने विचार प्रकट करूँगा। मैं सहर्ष राज-पद तथा वंश-परम्परा के इन उत्तराधिकारमय अधिकारों को छोड़ता हूँ और घोषणा करता हूँ कि इस राज्य में राज-पद नाम का कोई अस्तित्व न रहेगा। मेरे वंशज या मेरी संतानें साधारण जनता-सी अपना जीवन व्यतीत करेंगी और उनमें भी मैं उदार भावनाओं को भरने का प्रयास करूँगा।

यह निश्चित सत्य है कि मैंने और मेरी ही भाँति विचार रखने वाले मेरे पूर्वजों ने या किसी नगर में राज-पद को विभूषित करने वाले व्यक्तियों ने ही, अपने व्यक्तिगत साम्राज्य की लालसा में पड़ कर गरीबी के पाप को बढ़ाया है और बढ़ने दिया है। भारत के कोने-कोने में गरीबी के पाप को बढ़ने देने में ऐसे ही स्वार्थी तथा साम्राज्य-लोलुपी नरेशों का हाथ था और इन्हीं के आपसी झगड़ों ने ही देश को विजातीय दासत्व की शृंखला में बँधवाया था। अब आज मुझ पर इन्हीं सब पापों के प्रायश्चित करने की ज़िम्मेदारी है। मैं आज से जनता का राजा नहीं; वरन् सिपाही हूँ, स्वामी नहीं; वरन् सेवक हूँ।

बस, अंत में मैं अपने पूर्व पापों की क्षमा याचना करता हूँ और चाहता हूँ कि जिस कार्य का बीजारोपण प्रकाश ने,

मनुष्य रूप में, एक देवता ने प्रारम्भ किया था, हम सब उसे तन, मन, धन से सेवा करते हुए आगे बढ़ायें और व्यष्टिमय जीवन व्यतीत करने की भावना त्याग कर समष्टि की ओर अग्रसर हों।"

इतना कहकर दौलतशाह अपने स्थान पर बैठ गये। सारी प्रजा का ध्यान दौलतशाह की इस सदाशयता की ओर आकृष्ट हुआ। जनता तथा उसके प्रतिनिधियों ने दौलतशाह की जय के नारे लगाये और मानवता के सेवा-पथ पर अग्रसर होते देख बधाइयाँ दीं और अन्त में आज तक दौलतशाह के प्रति जनता के हृदय में जो भी कलुषित भावनाएँ थीं वह इस शुभ अवसर पर धुल कर बह गईं।

इसके पश्चात् सभा विसर्जित हो गई। जीवन सौन्दर्य नहीं, कर्म है, इस विशुद्ध भावना को लेकर दौलतशाह अपने नये जीवन-क्षेत्र में कूद पड़े।

× × ×

मिलन नहीं अब, संभव सजनी, पल-पल जीवन खोना।
कुचली आशा की पीड़ा में जब तक जीना, रोना॥
मेरे मानस में न कभी भी आयेंगी वसन्त की घड़ियाँ।
बिथरी पड़ी सूख जायेंगी अश्रु-माल की लोनी लड़ियाँ॥
तेरे प्रेम प्रीति में आली! मैंने तो पाया जलना।
कब बीतेगी विरह-निशाएँ, कब होगा असीम में चलना॥

यह पंक्तियाँ प्रकाश के अन्तिम जीवन की परिभाषा है। प्रकाश अपनी धुन में मस्त बैठा है प्रेम की अलख ज्योति जगाने। उसकी प्रियतमा उसके पास नहीं, संसार में नहीं; किन्तु उसके जीवन में है, उसकी भावनाओं में है, उसकी

श्वास-प्रश्वास में है। वह कर्म-अकर्म के प्रत्येक बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर बैठा है, अपने कठोर एकान्त में उसी प्रेम-मूर्ति की उपासना करने।

असफल प्रेम की निराशा, उसकी सारी कमाई है। कठोर कर्तव्य का बन्धन, मन के बहलाने का एक उपक्रम। वह कर्तव्यों का बोझ लेकर तभी तक टिक सका, जब तक उसकी वसन्तिका का अस्तित्व इस दृश्यमान जगत में था; किन्तु वसतन्का के ओझल होते ही जैसे सारा विश्व उसके लिए कर्म शून्य हो गया। उसने—वसन्तिका के चिता-भस्म को अङ्गराग बना कर, दुनिया के झगड़ों पर ठोकर मार दी। उस विभूति को मलकर प्रकाश की काया, लौकिक व्यापारों से मुक्त हो गई।

वसन्तिका की मृत्यु प्रकाश के उस जीवन को मृत्यु बन गई, जिसकी साधना में प्रकाश ने वसन्तिका को भी भुलाये रक्खा। वसन्तिका के जीवन काल में, वसन्तिका के बिना, जब कभी बेचैन हुआ भी तभी उसने अपने को कठोर व्रतों में में लगाये रक्खा; किन्तु जिस दिन अपना बलिदान कर वसन्तिका, प्रकाश को अकेले ही छोड़, दुनिया से कूच कर बैठी, उसी दिन प्रकाश ने अपने आप ही समझा—अब इन लौकिक कर्मों में मेरे लिए धरा क्या है? जिसके दर्शन की उत्तेजना पाकर मुझमें प्राणों का संचार होता था, मेरी कर्तृत्व शक्ति सफलता साथ साथ लिये मेरे पीछे दौड़ती थी, मैं जिसके कर्ममय जीवन को झाँकी निरख कर, उसका साथी बने रहने के लिए लालायित रहता था मेरी वह निधि तो मुझसे दूर हो गई, लूट ली गई, दुनिया के परदे से वह नक़शा लोप हो गया।

प्रकाश ने आगे चल कर अपने उत्तरदायित्व का भार दौलतशाह पर डाल दिया और अब वह अपंगु बन बैठा। चलना-फिरना, कहना-सुनना, मिलना-जुलना वह सभी छोड़-कर, वसन्तिका की क्रीड़ा-भूमि पर एक आसन लगाकर बैठ गया और तब से वह वहीं बैठा रहता है।

दुनिया वाले इक्के-दुक्के अब भी उसके पास आते हैं। उसकी इज़्ज़त पूजा करते हैं, उससे जीवन के विभिन्न तथ्यों की मीमांसा कराते हैं, कई कठिनाइयों का हाल पूछते हैं और चले जाते हैं। प्रकाश तब अपनी लेकर बैठता है, जाने कितनी गुनता-धुनता रहता है, फिर भी वह कभी थकता नहीं।

शाम-सुबह वह मैदानों में, घाटी के ऊँचे-नीचे टीलों में, कभी कभी पर्वत चोटियों पर चढ़कर, वायु के झोके खाकर बड़े विचार में खड़ा हो जाता है। भावुकता के साथ शून्य से ही पूछ बैठता है—हहर-हहर करता हुआ यह पवन, क्यों पृथ्वी और अन्तरिक्ष तक उड़ रहा है? न जाने कहाँ-कहाँ टकरा रहा है। न इसे पल भर के लिए विराम है, न क्षण भर के लिए शान्ति।

झरने के तट पर कभी-कभी उसे वही दृश्य दिखाई देता है—घहराती हुई एक दूसरे पर झम-झम गिरने वाली धाराएँ अद्भुत वेग से बढ़ती हुई भागी जाती हैं। उनमें थिरकती हुई पैदा होने वाली चंचल लहरें पल भर भी एक जगह नहीं रुकतीं।

प्रभात में वह देखता है—प्राची के द्वार पर, रंग विरंगे परिधानों से सुसज्जित, उषा सुंदरी प्रियतम की बाट जोहती रहती है। अपनी अरुणिमा-रंजित सौन्दर्य-श्री पर—वह चाहती है—उसका प्रियतम रीझ जाय, उस पर लट्टू हो जाय—नहीं, उसकी गति भी बाद हो जाय, बल्कि इसीलिए वह जीवन-धन के पग-पग पर, सौन्दर्य, मादकता एवं मधुर संगीत भर देती है और फिर निश्चय भी कर बैठती है कि अब उसका प्रियतम उसकी बिखरी हुई माया के अञ्चल में अवश्य ही आँखमिचौनी का खेल खेलेगा और ज्यों ही उसका देवता निकलता है वह आलिङ्गन के लिए अपने बाहु फैला देती है फिर भी उसका प्रियतम बड़ी क्रूरता से आगे बढ़ता हुआ कह कर चला जाता है—वह रुक नहीं सकता, उसका पथ बड़ा लम्बा है, उसे चलते ही रहना है, एक पल भी चूकने पर, उसकी यात्रा निःसार हो जानी है।

उषा का रक्त-रंजित मुँह पीला पड़ जाता है। सारे अरमान जाते रहते हैं। दिल टूट जाता है। वह अपने परिधान उतार कर फेंक देती है। रूप और यौवन बिगड़ जाता है। शृङ्गार की होली जल उठती है।

प्रकाश सोचता है—यह सब क्या? कोई तो स्थिर नहीं? किसी का किसी से मिलन नहीं। पल भर के लिए जो दिखाई पड़ता है, वह सब भूल-भुलैया। सब अपने-अपने व्यापार में लीन। एक बन्धन, सभी उसमें जकड़े हुए। पल भर की निष्क्रियता और फिर सभी कुछ बन्द। पल भर पूर्व के जीवन का लोप और उसके पश्चात् और ही दृश्य।

जब सबका पल भर का ही मिलन है, तब मेरे लिए भी उतना हो। वसन्तिका जब गई, तो सदा के लिए गई। मेरा पूर्व जीवन, जैसे बीता वैसे बीता. किन्तु फिर भी वसन्तिका की स्मृति को बनाये रखने की भावना! क्या? ग़रीबी का पाप। वह उसी के लिए तो अपना सर्वस्व बलिदान कर बैठी।

ग़रीबी का पाप, जिसके हटाने में वसन्तिका को खो बैठा, पर फिर भी नहीं हटा सका, ग़रीबी के पाप को हटाने की भावना, जिसे दौलतशाह के हाथों बन्धन रख आया, फिर भी मेरे अन्तर में घटा-सी घिरी है। ग़रीबी के पाप का वह वीभत्स दृश्य, जिसमें तड़पता हुआ अनन्त मानव-समुदाय नारकीय-जीवन व्यतीत करता है, न जाने कितने रङ्गों में मेरे हृदय पर खिंचा है। तब फिर क्या करूँ इस ग़रीबी के पाप को?

चित्रकार से कहूँ, वह अपनी तूलिका लेकर बैठे और इतने दृश्य बनाये कि चारों ओर सब को ग़रीबी का पाप दिखलाई पड़ने लगे।

कवि से कहूँ—वह अपनी पर्णकुटी में दीन हीन जीवन लेकर अपने अन्तर की सूक्ष्म भावना को इस तरह व्यक्त करे कि गायक झट दौड़कर ग़रीबी का पाप गाने लगे।

कलाकार से कहूँ—वह अपनी सर्वोत्कृष्ट कला की ऐसी प्रदर्शिनी दिखाये कि ग़रीबी अपना मूर्त-रूप लेकर अपनी मर्मान्तक पीड़ा से विश्व-हृदय को दहला दे।

बस, प्रकाश अपने इन्हीं विचारों को उधेड़बुन में जीवन व्यतीत करता है। जब कोई उसकी कुटी में जा पहुँचता है, तो प्रकाश उससे बातें करता है। आज की दुनिया की। वह

कहता है—'आज की दुनिया ज़ालिमों की बस्ती है, मनुष्य मनुष्य के रक्त का प्यासा है। एक ने कई का हक़ छीन लिया है। ग़रीबी का पाप इन्हीं दुष्कृतियों की देन है। इसलिए संसार के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। पुरानी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करो। सब की सुविधा, सब का सुख तथा सब की शान्ति के लिए जीवन में कर्म करो। मनुष्य मनुष्य के लिए ही कर्म करने को पैदा हुआ है।"

प्रकाश का सारा दिन इसी तरह कटता है, किन्तु जब रात आती है, सारा विश्व थककर सो जाता है, तब प्रकाश अपनी कुटी से निकल कर बाहर आता है। वह अपने जीवन की ग़रीबी से छटपटा कर अपने जीवन की वही पुरानी परिभाषा दुहराने लगता है—

आँसू है, और रुदन है, मूर्च्छा है, घोर जलन है!
उफ़, मेरे नन्हे से मन में, कितना उत्पीड़न है!